CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

954.01
श्री. द

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY

Acc. No. 3863

Book No. 954·01
श्री द

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
११६

दक्षिण भारत का इतिहास

(आरम्भ से प्राचीन राजवंशों के पतन तक)

डॉ० बलराम श्रीवास्तव
एम० ए०, एल० एल० बी०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न
प्राध्यापक : प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम 3863
प्राप्ति तिथि 19.12.69
State Museum, Library, Lko.

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१
१९६८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, संवत् २०२५

मूल्य : १०-००

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय लखनऊ
क्रम 3867
प्राप्ति तिथि 19/12/69
State Museum, Library, Lko.

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय लखनऊ
19/12/69

3863
19/12/69

© The Chowkhamba Vidyabhawan

Post Box No. 69

Chowk, Varanasi-1 (India)

1968

Phone : 3076

954.01
2
श्री ट

प्रधान कार्यालय—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पो० बा० ८, वाराणसी-१

फोन : ३१४५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
116
*****

DAKṢINA BHĀRATA KĀ ITIHĀSA

(A HISTORY OF SOUTH INDIA)

From the Beginning to the Fall of Ancient Dynasties

By

Dr. BALRAM SRIVASTAVA

M. A., LL. B., Ph. D., Sāhityratna

Lecturer, Ancient Indian History, Culture and Archaeology,

Banaras Hindn University.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1968

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

First Edition
1968
Price Rs. 10-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers and Antiquarian Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समर्पित

उन ज्ञात और अज्ञात मनीषियों को

जिनकी

भारत की मौलिक एकता

में

प्रतीति है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तावना

यद्यपि दक्षिण भारत का इतिहास भारतीय इतिहास का अविभाज्य अङ्ग है किन्तु खेद है कि भावात्मक एकता के वातावरण में भी हम दक्षिण भारत के इतिहास के अध्ययन-अध्यापन के प्रति उचित दृष्टिकोण नहीं अपना सके हैं। जहाँ उत्तर भारत के इतिहास के साधारण से साधारण राजवंशों की हम उपेक्षा नहीं करते हैं वहाँ दक्षिण भारत के इतिहास के अध्ययन के संदर्भ में हम केवल एक-दो राजवंशों अथवा कुछ राजाओं का विवरण ही पढ़-पढ़ाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। भारतीय इतिहास के अध्ययन-अध्यापन के प्रति यह त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण है। भारतीय इतिहास और संस्कृति के सम्यक् अनुशीलन के लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति और इतिहास के निर्माण में जनपदीय अथवा क्षेत्रीय योगदान का भी उचित मूल्यांकन किया जाय। इस दृष्टि से दक्षिण भारत के इतिहास का अनुशीलन न केवल सामयिक आवश्यकता है अपितु इसका शाश्वत महत्व भी है। जनपदीय अथवा क्षेत्रीय दृष्टि से भारतीय इतिहास के निरूपण के प्रति यह आक्षेप भी गलत है कि इससे भारतीय इतिहास की समग्रता के भावबोध में बाधा पड़ेगी। वस्तुतः भारत जैसे विशाल देश में दक्षिण भारत ही नहीं अपितु भारत के समस्त अञ्चलों के इतिहास के पृथक्-पृथक् अनुशीलन की आवश्यकता है। इतिहास के अध्ययन के लिये इस प्रकार का जनपदीय और भौगोलिक आधार लेना उपादेय है और इससे भारतीय इतिहास की विशालता, अविच्छिन्नता और उपादेयता पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ेगा। जनपदीय दृष्टिकोण एक भौगोलिक तथ्य है और भूगोल का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भूगोल की उपेक्षा करके इतिहास का अध्ययन जितना हानिकर है उतना भूगोल की सीमा को मान्यता और महत्व देते हुये इतिहास के अध्ययन से नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'दक्षिण भारत का इतिहास' हिन्दी में इस ढंग की पहली पुस्तक है। अंगरेजी में भी ऐसी पुस्तकों की संख्या कम ही है। हिन्दी में लिखा 'दक्षिण भारत का इतिहास' अंगरेजी में लिखे दक्षिण भारत के इतिहास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्धी ग्रन्थों से गुरुतर महत्व रखता है। हिन्दीभाषियों की भारत में संख्या अंगरेजी सहित अन्य भाषा-भाषियों की अपेक्षा अधिक है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ दक्षिण भारत के इतिहास के सम्बन्ध में जिज्ञासु व्यक्तियों के लिये चाहे वे स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थी हों अथवा सामान्य पाठक, असाधारण महत्व रखता है। आज जब भाषा समस्या नया मोड़ ले रही है तो हम केवल सांस्कृतिक और भावात्मक एकता की दुहाई देकर ही समस्या टाल नहीं सकते। बल्कि हमें इस एकता के मूल में वर्तमान सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों को सही ढंग से समझना और समझाना होगा। प्रस्तुत ग्रंथ इस बात का उदाहरण है कि हिन्दी के माध्यम से शाश्वत सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों के अनुशीलन में कोई बाधा नहीं है।

डॉ० बलराम श्रीवास्तव इतिहास और हिन्दी के पाठकों के लिये अपरिचित नहीं हैं। इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास की विविध अवस्थाओं का यथाक्रम निरूपण बहुत ही सन्तुलित ढंग से किया है। तथ्यों के चयन में भावात्मक आग्रह की उपेक्षा की गयी है। निस्सन्देह डॉ० बलराम ने इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी और इतिहास दोनों की लगन से सेवा की है और इसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक स्नातक और स्नातकोत्तर ही नहीं अपितु सामान्य अध्ययन के लिये भी लोकप्रिय होगी।

वाराणसी
७-४-६८

अवध किशोर नारायण
अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आभार और निवेदन

इतिहास एक अजस्र प्रवाह है किन्तु काल की गतिविधि से सवर्था अप्रभावित नहीं। अतीत और वर्तमान में एकात्मकता की स्थापना करते हुए भी इतिहास की धारा प्राचीन और नवीन का अन्तर स्पष्ट करती है। इस कारण प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य केवल प्राचीन राजवंशों के उदय और अस्त की गाथा प्रस्तुत करना युक्तिसंगत है। तेरहवीं शती ईसवी भारतीय इतिहास का संक्रान्तिकाल है जिसमें दक्षिण भारत के प्राचीन राजवंशों का लोप होता है और और नवीन राजवंशों का उदय। चौदहवीं शती और इसके बाद के राजवंशों का अध्ययन प्रस्तुत ग्रंथ की परिधि से बाहर रखा गया है चाहे वे प्राचीन राजवंशों के उत्तराधिकारी रहे हों अथवा इस्लामी सल्तनत के अङ्ग।

इतिहास का अर्थ व्यक्ति और घटनाओं का देशकाल की परिधि में अध्ययन है। व्यक्ति और घटनाएँ राजनीतिक भी हो सकती हैं और सांस्कृतिक भी। वस्तुतः दोनों के समन्वित अध्ययन से ही इतिहास के व्यक्तित्व का वास्तविक उद्घाटन होता है। किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिये इतिहास के राजनीतिक और सांस्कृतिक पक्षों का पृथक् रूप से निरूपण न्यायसंगत है। 'दक्षिण भारत का इतिहास' का लक्ष्य दक्षिण भारत के राजनीतिक व्यक्तित्व की समीक्षा है। दक्षिण भारत के सांस्कृतिक व्यक्तित्व का निरूपण प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखित 'दक्षिण भारत की संस्कृति' में किया गया है।

मैं उन समस्त लेखकों का आभारी हूँ जिन्होंने दक्षिण भारत के इतिहास पर शोध किया है। मैंने यथाशक्य अपने से पूर्व सभी लेखकों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के ग्रंथों को अपने अध्ययन का आधार बनाया है। चित्रों के लिये मैं इण्डिया सोसाइटी, लन्दन तथा भारतीय पुरातत्त्व विभाग का विशेष आभारी हूँ। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रकाशित चित्रों का आधार उक्त दो संस्थाएँ हैं। पाण्ड्य राजमुद्रा की रेखानुकृति इलियट के 'क्वाइनस् आफ सदर्न इण्डिया' और चोल राजमुद्रा की अनुकृति नीलकंठ शास्त्री के 'चोलाज़' के आधार पर है। मैं इन मनीषियों के प्रति कृतज्ञ हूँ। रेखाङ्कन के लिये मैं अपने विभागीय सहयोगी श्री ब्रह्मदेव 'मधुर' का आभारी हूँ। श्री सुरेशचन्द्र घिल्डियाल और बद्रीनाथ पाठक ने पुस्तकालयीय सहायता से मेरा अध्ययन सुकर बनाया।

अन्त में मैं चौखम्बा प्रकाशन के अधिकारियों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। वस्तुतः यह ग्रंथ उन्हीं की प्रेरणा और प्रयास का परिणाम है।

रामनवमी
संवत् २०२५

बलराम श्रीवास्तव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्रम

प्रस्तावना	[७]
आभार और निवेदन	[९]
१ भूमि और निवासी	१
२ प्रागितिहास और ऐतिहासिक समारम्भ	१६
३ संगमयुग	२६
४ पल्लवों का उद्भव और आरम्भिक विकास	४१
५ प्रथम पाण्ड्य साम्राज्य	५९
६ महान् पल्लव और उनकी परम्परा	६८
७ साम्राज्यवादी चोलों का उदय	९१
८ महान् चोल और उनकी परम्परा	१००
९ कुलोत्तुङ्ग और परवर्ती चोल	१२४
१० द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य	१३८
११ होयसल राजवंश	१५४
१२ मुस्लिम आक्रमण : प्राचीन राजवंशों का पतन	१७२
परिशिष्ट १	१८१
दक्षिण भारत और दक्षिण पूर्व एशिया का राजनीतिक सम्बन्ध	
परिशिष्ट २	१८९
संक्षिप्त तिथि-तालिका	
संक्षिप्त ग्रन्थ सूची	१९१
नामानुक्रमणिका	१९४
फलक	१–८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिण भारत का इतिहास

(आरम्भ से प्राचीन राजवंशों के पतन तक)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन दक्षिण भारत

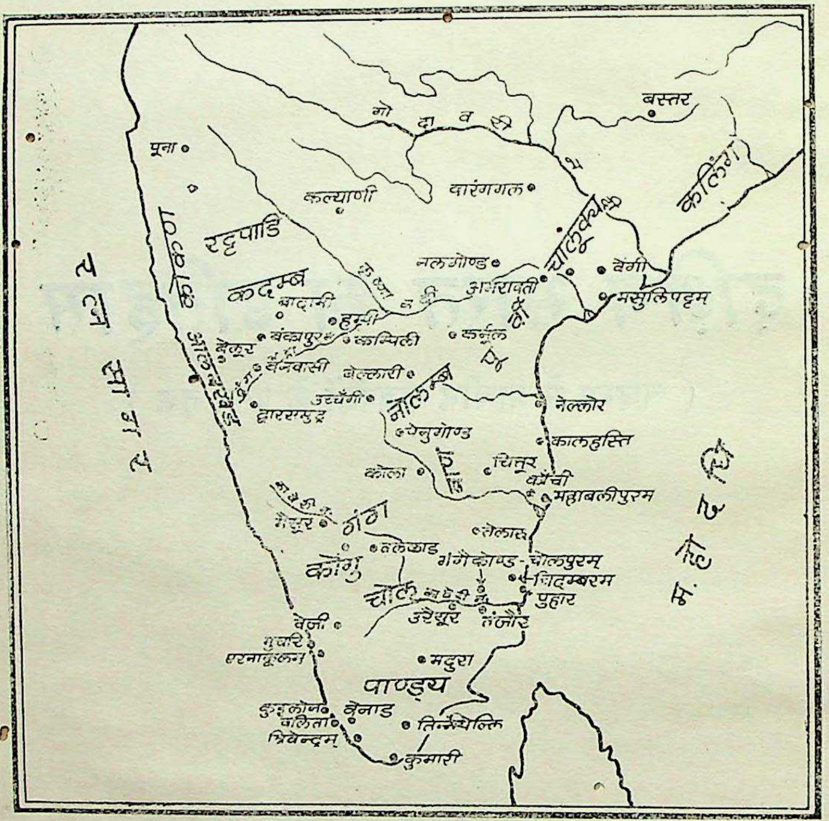

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय १

भूमि और निवासी

प्रस्तुत अध्ययन में 'दक्षिण भारत' का तात्पर्य भारत के उस भूभाग से है जो तुङ्गभद्रा और कृष्णा नदी के दक्षिण में पड़ता है। प्राचीन भारत में भी 'दक्षिणापथ' के संदर्भ में कृष्णा नदी के नीचे का प्रदेश नहीं आता था। पालि-साहित्य में सामान्यतया दक्षिणापथ की अन्तिम सीमा महिषमण्डल द्वारा निर्धारित की गयी है। दक्षिणापथ तथा उससे दक्षिण के द्रविड अथवा तमिलहम् प्रदेश का भौगोलिक और सांस्कृतिक अन्तर 'पेरिप्लस आफ द इरिथियन सी' के रचयिता को स्पष्ट था। इस लेखक ने अपने विवरण में (अंश ५० और ५१) दक्षिणापथ को 'दच्छिनबदेस' और द्रविड अथवा तमिलहम् भारत को 'दमिरिका = दमिलकम्' के नाम से अभिहित किया है।

यह भूभाग भौगोलिक दृष्टि से बड़ा ही विषम है। दक्षिणी प्रायद्वीप का यह त्रिकोण भूभाग कृष्णा, तुङ्गभद्रा तथा कावेरी और इनकी सहायक नदियों से अभिसिंचित है। इस पठार की समुद्रतट से सामान्य ऊँचाई १००० से २००० फीट तक है। इस प्रायद्वीप को पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट की श्रृंखलाएँ सुरक्षित करती हैं तथा दोनों ही पर्वत-मालिकाएँ सुदूर दक्षिण में जाकर नीलगिरि से मिलती हैं। पठार और इन पर्वत श्रृङ्खलाओं के कारण दक्षिण भारत का पूरा का पूरा क्षेत्र यातायात के लिए दुर्गम है। आन्तरिक पथपद्धति कठिन होने के कारण दक्षिण भारत के निवासी समीप के सिन्धुतट यथा पश्चिम में रत्नाकर (अरब सागर) और पूर्व में महोदधि (बंगाल की खाड़ी) के संचार सम्बन्धी उपयोग के प्रति सजग थे। दक्षिण भारतीयों ने व्यापार और संस्कृति के केन्द्र के रूप में समुद्रतट पर अनेक महत्त्वपूर्ण समुद्र-पत्तनों का विकास कर लिया था।

'पेरिप्लस' के लेखक ने अपने समय (प्रथम शती ईसवी) के उन समुद्र-पत्तनों का अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है जो केरल और तमिलहम् क्षेत्र में पड़ते थे। पश्चिमी दक्षिणापथ से सम्बन्धित भरुकच्छ (बरीगाजा) और सूर्पारक (सोपारा) के समुद्रपत्तनों से तमिल देश के नगरों का सम्बन्ध था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस क्षेत्र का बहुत सा माल भरुकच्छ तथा सूर्पारक से सिकन्दरिया और रोम को जाता था। आलोच्य क्षेत्र की सीमा में पश्चिमी घाट के कुछ समुद्रपत्तनों की सूची में 'पेरिप्लस' के लेखक ने जिन नामों की गणना की है वे हैं—नौरा, टिण्डिस, मुजिरिस, नेलकिन्ड, बकरे, बलीता और कोमारी। 'पेरिप्लस' में नौरा और टिण्डिस का उल्लेख तमिल देश (दमिरिका) के प्रथम समुद्रपत्तनों में किया गया है। ये दोनों पत्तन क्रमशः प्राचीन सतियपुत्र और चेर जनपद में थे और इनकी पहचान आधुनिक कनानोर और पोन्नानी नगरों से की जा सकती है। नौरा नगर से रोमदेशीय सिक्के भी मिले हैं। चेर जनपद ही में मुजिरिस् (प्राचीन मुचरि) नगर भी था जो पश्चिमी तट के बड़े समुद्रपत्तनों में था। 'पेरिप्लस' के अनुसार पहली शती के आसपास यहाँ से एक सीधा समुद्री मार्ग कना और यूडैमोन (अरबों के नगर) के लिए प्रचलित हो गया था जिससे रोम और यूनान के व्यापारियों को सिकन्दरिया से दक्षिण भारत के बाजारों में पहुंचने में अपेक्षाकृत कम समय लगता था। यहाँ से भारी मात्रा में मिर्च, मसाले, मूँगे, मोती, रेशम, हाथीदाँत, सुगन्धित द्रव्य विदेशों को, विशेषकर रोम को, भेजे जाते थे। बदले में रोम से प्रभूत मात्रा में सिक्के, वस्त्र, सीसा, टिन, तांबा, शराब, अंजन आदि आते थे। यहीं से परियार नदी पर स्थित वेञ्जी नगर भी सम्बद्ध था। पाण्ड्य जनपद में नेलकिन्ड और बकरे नामक दो पत्तन थे, जो परस्पर एक दूसरे के व्यापारिक सहयोगी थे। इन दोनों का ही सम्बन्ध मदुरा से था। इसके नीचे के दो समुद्रपत्तन, बलीता और कोमारी का व्यापारिक महत्त्व गौण था किन्तु कोमारी (कन्याकुमारी) के धार्मिक महत्त्व का वर्णन भी 'पेरिप्लस' ने किया है।

पूर्वीतट के समुद्रपत्तनों की सूची में 'पेरिप्लस' में कोलची, कमरा, पोदुका, सोपत्मा, मसलिया आदि के नाम गिनाये गये हैं। कोलची चोलों के कोरकै बन्दरगाह से तुलनीय है। यहाँ से उरैयूर से पथ-सम्बन्ध स्थापित था जो सिरुमले पर्वतमाला से होकर जाता था। 'शिलप्पदिकारम्' (२. ९०–१०७) में इस पथ का रोचक वर्णन है। मोतियों के व्यापार के लिए यह नगर बड़ा प्रसिद्ध था। चोलमण्डलम् के अन्य समुद्रपत्तनों में कमरा, पोदुचे और सोपत्मा महत्त्वपूर्ण थे। इन पत्तनों से पश्चिमी तट के नगरों से तो व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था ही, साथ ही इन्हीं समुद्रपत्तनों से होकर सुदूर पूर्व को भी जहाज भेजे जाते थे। पोदुचे नगर की पहचान व्हीलर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महोदय ने अरिकमेडु से की है। यहाँ के उत्खनन से बहुत से ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे चोलमण्डल के रोम से व्यापारिक सम्बन्ध का प्रमाण मिलता है। अरिकमेडु, प्राचीन काल में यवन व्यापारियों की छावनी थी। कमरा की पहचान पुहार अथवा कावेरीपट्टनम् से करना समीचीन है। पुहार की समृद्धि का अच्छा विवरण 'शिलप्पदिकारम्' (२।११।१४-१९) में उपलब्ध है। मसालिया की पहचान मसुलिपट्टन से की जा सकती है, जो वस्तुतः आन्ध्रपथ में था।

ये सभी समुद्रपत्तन पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट तथा समुद्र के बीच के समतल मैदानी पट्टियों में स्थित थे। इस भूभाग की समुद्रतल से सामान्य ऊँचाई ६०० फीट से अधिक नहीं है, अतएव यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही उर्वर रहा है। वस्तुतः आलोच्य दक्षिणभारत की समृद्धि के आधार पूर्वी और पश्चिमी तट के यही समतल क्षेत्र रहे हैं।

आन्तरिक क्षेत्र की नदियाँ यहाँ के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में अपना अद्वितीय महत्त्व रखती हैं। कृष्णा और तुङ्गभद्रा नदियाँ तमिलहम् जनपद की उत्तरी सांस्कृतिक सीमा निर्धारित करती हैं। प्राचीन काल में दक्षिण के राज्यों के उत्कर्षापकर्ष का प्रभाव इन नदियों के क्षेत्र के राजनीतिक जीवन पर बराबर पड़ता रहा है। दक्षिणापथ और आन्ध्रपथ के अनेक राज्यों ने कृष्णा की राजनीतिक सीमा का अतिक्रमण करके दक्षिण के तमिल जनपद के राजनीतिक जीवन को प्रभावित किया है। ठीक यही स्थिति दक्षिण के पल्लव और चोल राज्यों के विषय में भी कही जा सकती है। राजनीतिक उत्कर्ष काल में इन राज्यों ने कृष्णा नदी को पार कर दक्षिणापथ और आन्ध्र के राज्यों को आक्रान्त किया था। इनका संघर्ष दक्षिणापथ के पड़ोसी राज्यों, यथा बादामी के चालुक्य, राष्ट्रकूट, तथा कल्याणी के चालुक्य आदि के साथ अनेक बार हुआ। तुङ्गभद्रा की आर्थिक उपयोगिता भी थी। इस पर बँधा बाँध हम्पी नगर तथा होयसल जनपद की जल-आपूर्ति करता था।

कावेरी दक्षिण भारत के सांस्कृतिक जीवन में वही महत्त्व रखती है जो उत्तर भारत में गंगा। तमिल साहित्य में कावेरी के प्रति भावात्मक उद्गारों और पूजाभाव की बड़ी प्रचुरता है। ठेठ तमिल के सांस्कृतिक जीवन की अजस्र धारा कावेरी के काँठें में ही प्रस्फुटित हुई। अपनी सहायक नदियों यथा, कब्बनी, हेमावती, अर्कावती आदि के जल से यह सरिता सदा सरस और जलवती रहती थी, जिसके कृषि सम्बन्धी उपयोग में चोल नृप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बड़े ही पटु सिद्ध हुये हैं। पल्लर और पेन्नार नदियों की भी आर्थिक महत्ता कम नहीं आँकी जा सकती। पेरियार और ताम्रपर्णि नदियों के आर्थिक महत्व का विवरण तमिल साहित्य में मिलता है। ताम्रपर्णि से प्राप्त मोती का व्यापार चोल व्यापारी करते थे।

इन नदियों के काँठों में जिस सांस्कृतिक व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा था उसका प्रागैतिहासिक समारम्भ यद्यपि भारतीय प्रस्तर युग में ही हो चुका था किन्तु भौगोलिक परिस्थितिवश इसका सम्पर्क बहुत दिनों तक उस आर्य संस्कृति से न हो सका था जिसका प्रवाह दक्षिणापथ से होकर कृष्णा और गोदावरी के काँठों को काफी पहले से रससिक्त कर रहा था। इस प्रदेश में पलने वाली संस्कृति का अपना व्यक्तित्व था, जो आर्य संस्कृति के सम्पर्क में आ जाने के बाद भी अपना वैलक्षण्य बनाये रखने में समर्थ रहा। इस संस्कृति को विद्वानों ने द्रविड संस्कृति कहना अधिक समीचीन समझा है। यह नाम जातिगत भी है और भाषागत भी। नृशास्त्रीय दृष्टि से द्रविड संस्कृति के निर्माण में द्रविड जाति के अतिरिक्त आग्नेय जातियों का भी योग था।

भारत में द्रविड जाति और भाषा का इतिहास जितना प्राचीन है उतना ही विवादास्पद भी। भारतीय संस्कृति में द्रविड तत्त्व का अस्तित्व आर्य तत्त्व से भी प्राचीन सिद्ध किया जाता है तथा इसकी भौगोलिक व्याप्ति से उत्तरापथ के धुर उत्तरी क्षेत्र यथा पंजाब, गंगा का ऊपरी द्वाब भी अछूते न रह सके थे। वैज्ञानिक रूप से यह कहना अत्यन्त कठिन है कि आर्य भाषा-परिवार पर द्रविड भाषा-परिवार का प्रभाव नहीं था।

द्रविड जातियों का उद्गम किन मूल प्रजातियों द्वारा सम्भव हुआ, यह कहना भी तबतक कठिन है जब तक प्रागैतिहासिक पुरावस्तु के संदर्भ में कोई नरकंकाल नहीं मिल जाता। भाषाशास्त्रीय अनुमान के आधार पर सामान्य धारणा है कि द्रविड जाति का सम्बन्ध कई प्राचीन मानव सम्प्रदायों और प्रकारों से था। सामान्यतया द्रविड जातितत्त्व में समभूमध्यसागरीय मानव-प्रकार (प्रोटो मेडीटरेनियन) के अनेक तत्त्व थे। किन्तु तमिल क्षेत्र में आरमेनी मानव-प्रकार (अर्मेनोयड) और केरल में अल्पीय-आरमेनी मानव-प्रकार (अल्पाइन्-अर्मेनोयड) के भी बहुत से तत्त्व पाये जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से द्रविड भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत कई भाषाएँ आती हैं जिनमें तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम् प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। तेलुगु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रभाव आन्ध्र में अधिक था और इसी प्रकार ठेठ तमिल क्षेत्र के पश्चिम में कन्नड़ और मलयालम् का महत्त्व था। तमिल से सम्बद्ध गोण्डी, कुई, ओरन, कोडगु आदि बोलियाँ भी द्रविड भाषा-क्षेत्र में मान्यता प्राप्त थीं। द्रविड भाषा क्षेत्र की भौगोलिक रूपरेखा स्थिर करते हुये ई० पी० राइस महोदय ने यह मत व्यक्त किया है कि गोवा से राजमहल की पहाड़ियों तक के दक्षिण का सारा प्रदेश द्रविड भाषा-परिवार के अन्तर्गत आ सकता है।

यद्यपि यह कथन सर्वथा अनुचित है कि द्रविड भाषाएँ संस्कृत अथवा प्राकृत की 'विकृतियाँ' हैं, किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि द्रविड भाषा-परिवार की भाषाएँ और बोलियाँ अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हुये भी संस्कृत भाषा से बहुविध प्रभावित हैं। संस्कृत के बहुत से शब्द द्रविड भाषाओं की समृद्धि बढ़ाते हैं। ठीक यही स्थिति संस्कृत भाषा-परिवार की भी है। द्रविड भाषा-परिवार के बहुत से शब्द-तत्त्व संस्कृत और प्राकृत भाषा में महत्त्व रखते हैं वस्तुतः संस्कृत और द्रविड भाषा-परिवार अतीत काल से ही एक दूसरे के प्रति सद्भावना रखते थे और परस्पर आदान-प्रदान के संदर्भ में उदार दृष्टिकोण अपनाते थे। दक्षिणभारत में द्रविड भाषा-परिवार से आर्यभाषा-परिवार का सम्पर्क स्थापित करने में आर्य ऋषियों और संस्कृति-प्रचारकों, बौद्ध और जैन भिक्षु-संघों तथा अलवार और नायनार जैसे धार्मिक संतों का विशेष योग रहा है।

ऐतिहासिक युग में इस भूभाग में मुख्य रूप से चार राज्य पल्लवित हुये। पाण्ड्य राज्य दक्षिणतम जनपद था और पूर्वी तट से पश्चिमी तट तक फैला हुआ था। इसकी उत्तरी सीमा पुदुदुकोटई जिले में वालरू नदी थी। पाण्ड्य के उत्तरपूर्व में चोल और उत्तरपश्चिम में चेर राज्य पड़ते थे। मदुरा पाण्ड्यों की राजधानी थी। चोल साम्राज्य के अन्तर्गत कावेरी का काँठा तथा उसके आसपास के क्षेत्र थे। उरैयूर चोलों का राजनीतिक शक्ति केन्द्र था। चोलों के आधीन पुहार और कावेरीपट्टनम् भी थे, जहाँ उनके सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन का मानदण्ड स्थिर था। कभी कभी चोलों के आधीन काञ्ची के आसपास का क्षेत्र भी सम्मिलित रहता था। चेर राज्य पश्चिमी तट पर कोंकण तक फैला हुआ था। उसकी राजधानी वञ्जी थी जिसकी पहचान करुवूर से की जा सकती है। चेर की गणना वस्तुतः चोल और पाण्ड्य की तुलना में नहीं की जा सकती। परवर्त्ती युगों में चेरों का महत्त्व गौण था। किन्तु पल्लव दक्षिण की प्रधान शक्तियों में आते हैं। इनका शक्तिकेन्द्र काञ्ची

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में स्थित था। ये सभी राज्य, मुख्यतया पल्लव, पाण्ड्य और चोल अपने राजनीतिक अस्तित्व और विस्तार के लिए परस्पर संघर्षशील थे। वस्तुतः इनके इसी प्रकार के संघर्षों से इनके राजनीतिक व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। इन राज्यों के अतिरिक्त जिन शक्तियों ने दक्षिणभारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधि में यथा-सामर्थ्य और अवसर योगदान किया उनमें कलभ्र, पश्चिमी गंग, बाण, आलुप, कदम्ब, नोलम्ब, वैदुम्ब, होयसल, कोंगुदेश और केरल के राजवंश भी उल्लेखनीय हैं। ये सभी राज्य सामान्यतया पल्लव, चोल, पाण्ड्य, चालुक्य आदि प्रधान शक्तियों के आधीन सामन्त राज्य थे, जो प्रधान शक्तियों के निर्बल होने पर स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में भी कभी कभी उभर आया करते थे और पुनः परिस्थिति विपरीत होने पर दब जाते थे। फिर भी राजनीतिक शक्ति के रूप में इनका महत्त्व रहा है और दक्षिण भारत के समन्वित सांस्कृतिक व्यक्तित्व के निर्माण में भी इनका तात्विक योग था।

दक्षिणभारत के इतिहास की जानकारी के लिए हमें कुछ 'स्थल माहात्म्य' और 'स्थल पुराणों' को छोड़ अन्य कोई समसायिक प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। किन्तु समसामयिक साहित्य, अभिलेख, मुद्रा तथा अन्य पुरा-सामग्री से दक्षिण भारत के इतिहास के लिए हमें प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। मोटे तौर पर ऐतिहासिक सामग्री का विभाजन हम दो भागों में कर सकते हैं। पहला साहित्य और दूसरा पुरातत्त्व। साहित्य के दो उपविभाजन होंगे। प्रथम भारतीय और दूसरा अभारतीय। अभारतीय साहित्य के अन्तर्गत हम विदेशियों के दक्षिण भारत सम्बन्धी विवरण रख सकते हैं। इन विदेशी विवरणों से दक्षिण के राज्यों की प्राचीनता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है यद्यपि कहीं कहीं उनका विवरण भ्रामक भी है। किन्तु 'पेरिप्लस आफ द इरिथियन सी' इस तथ्य का अपवाद भी है। इसमें तत्कालीन दक्षिणभारत का जो भी विवरण है, सामान्यतया प्रामाणिक है। यह अन्तर सम्भवतः इस कारण से है कि जहाँ यूनानी लेखकों का विवरण (ईसवी सन् के पूर्व का) सुनी सुनायी बातों पर आधारित है, वहाँ 'पेरिप्लस' का विवरण प्रत्यक्ष जानकारी पर आधारित है। प्लिनी और 'पेरिप्लस' के अतिरिक्त टालेमी के 'भूगोल' में भी दक्षिण भारत का अच्छा विवरण मिलता है। टालेमी के 'भूगोल' का दक्षिण भारत के पूर्वी तट का विवरण भी प्रत्यक्ष जानकारी के आधार पर है। दक्षिणभारत का पूर्वी द्वीप समूह तथा इन्डोनेशिया से बड़ा ही गहरा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्ध था। इसकी बड़ी ही उत्तम और प्रामाणिक व्याख्या टालेमी के 'भूगोल' में उपलब्ध है। हुयेन-सांग, जिसने ६४० ई० में काञ्ची का भ्रमण किया था, के विवरण में भी पल्लवों के विषय में जानकारी होती है। मार्कोपोलो का विवरण पाण्ड्य इतिहास के लिए उपादेय है।

दक्षिणभारत के इतिहास के लिए भारतीय साहित्य में भी महत्वपूर्ण सामग्री है। 'संगम साहित्य' और उसमें उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन हम अन्यत्र करेंगे। 'संगम साहित्य' अपने में विशिष्ट साहित्य है तथा उससे एक युग-विशेष के इतिहास और संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। सामान्यतया संगम साहित्य ईसवी की प्रथम दो शताब्दियों के बीच की रचना है। ईसवी की तीसरी से छठी शती का समय दक्षिण भारत के इतिहास के लिए अन्धकार का युग है। इस बीच का कोई महत्त्वपूर्ण साहित्य नहीं प्राप्त है जो दक्षिणभारत के इतिहास की रचना के लिए उपादेय हो। पल्लवों के राजत्व काल में रचित संस्कृत और तमिल ग्रन्थ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्य के लिए बड़े उपादेय हैं। इस संदर्भ में 'अवन्तिसुन्दरी कथासार' का अद्वितीय महत्त्व है। पल्लव नरेश सिंहविष्णु तथा उसके समसामयिक नरेशों तथा उस काल के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन की अच्छी झाँकी प्रस्तुत ग्रन्थ से मिलती है। इसी प्रकार का महत्व महेन्द्रवर्मन् प्रथम के 'मत्तविलास-प्रहसन' का भी है। तत्कालीन कापालिकों और शाक्यभिक्षुओं के कारण उत्पन्न स्थिति का अच्छा और रञ्जक विवरण प्रस्तुत प्रहसन से उपलब्ध होता है। तमिल ग्रन्थ 'नन्दिक्कलम्बकम्' का भी ऐतिहासिक संदर्भ ग्रन्थ के रूप में असाधारण महत्त्व है। इस ग्रन्थ में नन्दिवर्मन् तृतीय के चरित और उपलब्धियों का विवेचन है। इस ग्रंथ में नन्दिवर्मन् तृतीय के आधीन काञ्ची नगर का वर्णन, उसकी राज्यसीमा का वर्णन, उसके युद्ध, शासनव्यवस्था तथा उसके सांस्कृतिक संरक्षण आदि का वर्णन है। जैन ग्रंथ 'लोकविभाग' के अध्ययन से सिंहवर्मन् के राजत्व तथा शासन तिथि का सही ज्ञान होता है। इसी संदर्भ में हम 'महावंश' की भी चर्चा कर सकते हैं। प्रारम्भिक पल्लव नरेशों की तिथि-परम्परा निर्धारित करने में 'महावंश' का विवरण बड़ा ही उपादेय है। चोल और पाण्ड्य इतिहास के लिये भी 'महावंश' का असाधारण महत्त्व है।

पाण्ड्य राजवंश के इतिहास के लिए स्थानीय अनुश्रुतियों का बड़ा महत्त्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। इन अनुश्रुतियों के तीन प्राचीन संस्करण पाये जाते हैं। सबसे प्राचीन संकलन पेरुम वर्ष्पुलियूर नम्बी द्वारा नवीं अथवा दसवीं शती के बीच किया गया। यह संकलन 'तिरुविलैयाडल पुराणम्' के नाम से जाना जाता है। बाद को इसी नाम से एक दूसरा ग्रन्थ संकलित किया गया, जिसके संकलनकर्त्ता परनजोतिमुनैवर थे। तीसरा संस्करण संस्कृत में है और यह 'हालास्यमाहात्म्य' के नाम से जाना जाता है। इन तीनों ही 'स्थलपुराणों' में परवर्त्ती दोनों ग्रन्थ, आकर ग्रन्थ के रूप में न्यून महत्त्व रखते हैं। इनमें तिहत्तर अथवा चौहत्तर पाण्ड्य राजाओं का वर्णन हुआ है, जो कि अप्रामाणिक है। वस्तुतः इन स्थल पुराणों का वंश-विवरण काल्पनिक है। किन्तु प्रथम स्थलपुराण अर्थात् पेरुम वर्ष्पुलियूर नम्बी का 'तिरुविलैयाडल' थोड़ा प्रामाणिक है और इसके कुछ तथ्यों का समर्थन अभिलेखीय प्रमाण भी करते हैं। इस 'स्थलपुराण' में केवल सात पल्लव नरेशों की चर्चा है।

चोलों के इतिहास के लिए भी साहित्य का सहारा लेना अनिवार्य है। चोलों के संदर्भ में मिलने वाले स्थलपुराणीय वृत्तान्त नितान्त अप्रामाणिक हैं किन्तु प्रारम्भिक चोलों के इतिहास के लिए 'संगम साहित्य' महत्त्वपूर्ण है। कुछ 'चरित' और 'माहात्म्य' प्रसंगवशात् तत्कालीन इतिहास और संस्कृति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं, यथा 'नव चोल चरित', 'बृहद्दीश्वर माहात्म्य' अथवा 'चोलवंश चरित'। प्रथम ग्रन्थ कन्नड में है जिसका रूपान्तर तेलुगु में भी मिलता है। 'बृहद्दीश्वर माहात्म्य' की भाषा संस्कृत है। किन्तु 'कोंगुदेश राजाक्कलचरितम्' में इतिहास की सामग्री न्यून है।

कुलोत्तुङ्ग द्वितीय के समय में लिखी गयी नम्बि आण्डार नम्बि की 'तिरुत्तोण्डर पुराणम्' जिसका नाम 'पेरियपुराणम्' भी है, समसामयिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री से पूर्ण है। बारहवीं शती की तत्कालीन धार्मिक अवस्था का इस ग्रन्थ से अच्छा ज्ञान होता है। इसी प्रकार का महत्त्व 'दिव्य सूरि चरित' और 'गुरुपरम्परै' का भी है। उपर्युक्त पुस्तकें धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत हैं; प्रथम पुस्तक अर्थात् 'पेरियपुराणम्' शैव सम्प्रदाय का और शेष पुस्तकें वैष्णव सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थ हैं। 'धर्मेतर साहित्य के अन्तर्गत, जिसका ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है, बुधमित्र के 'वीर शोलियम्', जयनगोण्डार के 'कलिंगत्तुपराणि' तथा इसी लेखक की तीन 'उलाओं' और ओट्टक्कूट्टम् के 'कुलोत्तुंङ्गन् पिल्लैत्तमिल' की गणना की जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकती है। 'वीर शोलियम्' व्याकरण की रचना है। इसमें व्याकरण नियमों की व्याख्या के लिए दिये गये उदाहरण ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। 'कलिंगत्तुपराणि' में कुलोत्तुंग के समय में उसके सेनापति करुणाकरत्तोण्डैमान् के कलिंग-विजय का विवरण है। कुलोत्तुंग की वंश-परम्परा का भी इसमें प्रामाणिक विवरण है। 'उला' एक प्रकार की साहित्यिक विधा है जिसमें राजाओं के दरबारी और शृङ्गारी जीवन का वर्णन प्रधानता से होता है और ऐतिहासिक तथ्य विशेष संदर्भ में ही प्रकट होते हैं। कुछ प्रसिद्ध 'उलाओं' में विक्रम कुलोत्तुंग द्वितीय, राजराज द्वितीय से सम्बन्धित 'उलायें' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'पराणि' वीर-गाथात्मक साहित्यिक विधा है। इस प्रकार के साहित्य के अन्तर्गत 'कलिंगत्तु-पराणि' के अतिरिक्त 'तक्कयागप्पराणि' की भी गणना की जा सकती है, यद्यपि यह दूसरा ग्रन्थ पौराणिक अधिक है, ऐतिहासिक कम। इसी श्रेणी में 'रामप्पैयन् अम्मानै' भी रखा जा सकता है।

तमिल साहित्य की एक विधा 'कौवै' भी है। 'पाण्डिक कौवे' नामक ग्रंथ से पाण्ड्य वंश के राजाओं के युद्धों का विवरण प्राप्त होता है। 'वीरगाथात्मक' साहित्य के अन्तर्गत 'कलम्बकम्' कोटि का साहित्य भी आता है। इस वर्ग का 'नन्दिक्कलम्बकम्' प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें पल्लवनरेश नन्दिवर्मन् तृतीय का चरित वर्णित है।

दक्षिण के प्रसिद्ध मन्दिरों का अपना इतिहास है और सामान्यतया प्रत्येक प्रसिद्ध मन्दिर का इतिहास आनुश्रुतिक रूप में वंशपरम्परा द्वारा संरक्षित है। ऐसे देवालय-अनुश्रुति-संग्रहों से ऐतिहासिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। खेद है कि बारहवीं शती के पूर्व का कोई प्रामाणिक 'देवालय अनुश्रुति संग्रह' अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। कुछ प्रसिद्ध 'देवालय अनुश्रुति संग्रहों' में 'मदुरैत्तलवरलारु' और 'श्रीरगं कोइल उलुगु' का विशिष्ट स्थान है।

पुरातत्त्व वर्ग की ऐतिहासिक सामग्री में अभिलेखों का असाधारण महत्त्व है। कुछ राजवंशों के इतिहास की जानकारी के लिए केवल अभिलेखीय प्रमाण ही पर्याप्त हैं। दक्षिण भारत के इतिहास के लिए प्राप्त अभिलेखों के तीन वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं—शिलालेख, ताम्रपत्रलेख और मुद्रालेख। प्राचीनता की दृष्टि से शिलालेखों का विशेष महत्त्व है। प्राचीन तथा प्रारम्भिक शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है। किन्तु छठी शती से ब्राह्मी के विकसित रूप ग्रन्थ लिपि के अतिरिक्त स्थानीय लिपि 'वट्टेलुट्टु' का प्रयोग बढ़ने लगा। भाषा की दृष्टि से प्रारम्भिक अभिलेखों की भाषा संस्कृत और प्राकृत है। छठी शती के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद अभिलेखों की भाषा के रूप में संस्कृत अथवा प्राकृत का पारम्परिक और आलंकारिक महत्त्व तो बना रहा किन्तु मुख्य अभिलेखांश को लिखने के लिए स्थानीय भाषा यथा, तमिल, तेलुगु कन्नड और बाद को मलयालम् का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

कुछ लघु अभिलेखों तथा दानात्मक लेखों को छोड़कर दक्षिण भारत के अभिलेखों के प्रमुख तत्वों की विवेचना इस प्रकार की जा सकती है। आदि में गद्य अथवा पद्य में देव-आवाहन, तत्पश्चात् राजा की प्रशस्ति और इसके बाद क्रमशः दाता, प्राप्तिकर्ता और देय वस्तु का विवरण रहता है। अन्त में दान की परम्परा चलते रहने के लिए प्रेरणा, परम्परा के निर्वाह के लिए प्रशंसा और आशीष तथा परम्परा भंग करने वाले के प्रति शाप-वचन भी रहते हैं। ये सभी तत्त्व प्रत्येक अभिलेख के अनिवार्य अंग तो नहीं होते किन्तु जिन अभिलेखों में राजाओं का 'वंशवृत्त' अभिलिखित होता हैं, वे ऐतिहासिक रचना के लिए विशेष उपादेय हैं।

सुदूर दक्षिण के कुछ राज्यों यथा चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र के मौर्यकाल में अस्तित्व का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए अशोक के द्वितीय, पंचम और अष्टम शिलालेख बड़ा महत्त्व रखते हैं। इन शिला-लेखों के अतिरिक्त लगभग तीस अन्य ब्राह्मी अभिलेख हैं जिनसे प्राचीन तमिल संस्कृति और धर्म की विकासोन्मुख दशा का परिचय मिलता है। 'संगमयुग' तथा तीसरी से छठी शती के बीच के लिए अभिलेखीय प्रमाण स्वल्प हैं। चौथी शती के पल्लवों के वृत्तान्तसूचक तीन ताम्रपत्र लेख जो प्राकृत में हैं, बड़े महत्त्व के हैं। शिवस्कन्द वर्मन् के समय तक के प्राकृत अभिलेखों की यह परम्परा थी कि इनमें दाता राजाओं के चरित और उपलब्धियों का विवरण रहता था। किन्तु पाँचवीं शती से पल्लव-अभिलेखों में दो परिवर्तन किये गये। एक तो प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया और दूसरे ऐतिहासिक विवरण केवल दाता-राजा तक ही सीमित न होकर दाता-राजाओं के पूर्वजों का भी वृत्तान्त प्रस्तुत करने लगा। संस्कृत ताम्रपत्रों में राजाओं की पूरी वंशावली प्रस्तुत मिलती है जो पल्लवों की तिथि परम्परा निश्चित करने में असाधारण महत्त्व रखती है। कूरम; कशाकुड़ी, वाहुर, वेलूरपाल्यम् आदि के अभिलेख इसके उदाहरण हैं।

सातवीं शती से पल्लव अभिलेखों का विशिष्ट स्वरूप रहा। ये अभिलेख प्रायः दानपरक हैं किन्तु वंशवृत्त संयुक्त होने के नाते परवर्त्ती पल्लवों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। अभिलेख प्रायः गद्यात्मक हैं जिनका प्रारम्भ संस्कृत में और मुख्य अंश तमिल में है। सभी अभिलेखों पर राज्याभिषेक अथवा राजत्व तिथि है, जिससे पल्लव-इतिहास की तिथिपरम्परा का निर्धारण किया जा सका है। कुछ प्रसिद्ध शिला-लेखों में, जिनका वंशावली-वर्णन प्रामाणिक है, राजसिंह का वायलूर स्तम्भलेख और पनमलै अभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं। महेन्द्र वर्मन् प्रथम का गुफा मंदिर लेख पद्यमय है। कुछ अन्य गुफा मन्दिर-शिलालेखों में पल्लावरम्, त्रिचनापल्ली, मड़गापट्टु विशेष महत्त्व के हैं।

पल्लवों के राजत्व के कुछ ताम्रपत्र भी मिलते हैं। उनका भी ऐतिहासिक महत्त्व शिलालेखों की ही तरह है। तिथि का स्पष्ट निर्देश न होने के कारण और किसी अज्ञात तिथि का उपयोग होने के कारण इन ताम्रपत्रों का काल निर्णय विद्वानों ने प्रायः लिपि-विज्ञान (पैलियोग्राफी) के ही आधार पर किया है, जो प्रायः ठीक ही है।

पल्लवों के आधीन अथवा अर्धस्वाधीन सामन्त-नृपों यथा पश्चिमी गंग, पश्चिमी चालुक्य, पाण्ड्य, मुत्तरैयर और बाण वंश के नृपों के अभिलेख भी पल्लव इतिहास-रचना के लिए उपादेय हैं।

पाण्ड्य-वंश के अभिलेख भी पल्लव-अभिलेखों की तरह संस्कृत और तमिल भाषा में पाये जाते हैं तथा इनमें प्रयुक्त लिपि ग्रन्थ (संस्कृत अंश के लिए) और वट्टेलुट्टु (तमिल अथवा अन्य स्थानीय भाषा वाले अंश के लिये) हैं। पाण्ड्यों का प्रारम्भिक इतिहास बताने वाले अभिलेख बहुत ही कम हैं किन्तु १००० ईसवी से पाण्ड्य अभिलेखों की संख्या में वृद्धि हुई और १००० ई० से आलोच्यकाल तक के पाण्ड्य इतिहास के लिए एक सहस्र से भी अधिक अभिलेख उपलब्ध हैं। इन अभिलेखों में विशिष्ट महत्त्व रखने वाले अभिलेख त्रिचनापल्ली और अम्बासमुद्रम् के अभिलेख, जटिलवर्मन् का मद्रास संग्रहालय का लेख, वेलवीकुडी और सिन्नामन्नूर के दानपत्र हैं। इनमें अन्तिम दो इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इन्हीं दो अभिलेखों के आधार पर पाण्ड्य इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। मदुरा के पास से प्राप्त अन्नमलायै अभिलेख (आठवीं शती) और ऐवरमलै (नवीं शती) के अभिलेख भी पाण्ड्य इतिहास के लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

विजयालय के पूर्व के चोल इतिहास के लिये अभिलेखीय प्रमाण सहायक नहीं हैं, किन्तु विजयालय के बाद का इतिहास अभिलेखों से स्पष्ट है। सैकड़ों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिलालेख और कुछ ताम्रपत्र चोल-इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। राजराज प्रथम ने अभिलेखों के द्वारा न केवल अपने पूर्ववर्ती इतिहास को संकलित करने की प्रथा चलायी अपितु समसामयिक घटनाओं और राजनीतिक उपलब्धियों को अभिलेखों में उत्तरोत्तर जोड़ते रहने की भी परम्परा प्रचलित की थी। उस पद्धति का अनुसरण उसके उत्तराधिकारियों ने भी किया, यद्यपि परवर्ती चोल नरशों के काल में अभिलेख तथ्यात्मक कम रह गये और विरुदात्मक अधिक। शुद्ध ऐतिहासिक महत्व के अभिलेखों में राजेन्द्र तृतीय के काल का 'तिरुवेन्दिपुरम्' का अभिलेख है, जिसमें न केवल चोल वंश के उत्कर्ष की ही कहानी है, अपितु वंश पराभव का भी विवरण शुद्ध तथ्यात्मक विधि से किया गया है। इस अभिलेख में उन होयसलों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन भी है जिनकी सहायता से चोल वंश का उद्धार सम्भव हुआ था।

चोल-अभिलेखों में एकाधिक लिपियों का प्रयोग किया गया है। किन्तु ग्रन्थ और वट्टेलुट्टु चोलों के अभिलेखों की प्रधान लिपियाँ थीं। भाषा की दृष्टि से भी अनेक प्रयोग चोल 'शासन' और 'दानपत्रों' में देखने को मिलते हैं। संस्कृत, तमिल, तेलुगु, और कन्नड चोल-अभिलेखों की प्रधान भाषाएँ थीं।

मुद्रा-लेखों का भी अध्ययन दक्षिणभारत के इतिहास के लिए उपादेय है। ये अभिलेख छोटे होते हुये भी आनुवंशिक इतिहास का अच्छा ज्ञान कराते हैं। दक्षिण भारत की अधिकांश मुद्रा-पद्धतियाँ तिथि आदि का विशेष ध्यान नहीं रख सकी हैं। राजवंशविशेष की सूचना देने के लिए राजकीय लक्षणों का ही अधिक सहारा लिया गया है। इन चिह्नों की संख्या आदि के परिवर्तन के आधार पर राजवंशों के विभिन्न राजाओं के सिक्कों का वर्गीकरण किया जा सका है। यह तथ्य पाण्ड्य सिक्कों के विषय में विशेष सत्य है। चोलों के सिक्के उनकी सर्वसंप्रभुता और उत्कर्ष के परिचायक हैं। पल्लवों के कुछ सिक्के यथा, जिन पर नौका का अंकन है, तत्कालीन समुद्री व्यापार और व्यापारिक समृद्धि की सूचना प्रस्तुत करते हैं। दक्षिणभारत से प्राप्त रोम देशीय सिक्के तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा भारत और रोम के सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में दक्षिण भारत के इतिहास के लिए उपादेय विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों का सर्वेक्षण ही अभीष्ट है। इन स्रोतों के उपयोग और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्ययन के आधार पर दक्षिण भारत का इतिहास उपलब्ध होता है। ऐतिहासिक युगों के पूर्व के विवरण के लिए भी हमारे पास प्रचुर सामग्री है। दक्षिण भारत के अनेक स्थलों से हमें असंख्य प्रागैतिहासिक आयुध और उपकरण (टूल्स एण्ड इम्पलीमेण्टस्) मिले हैं, जो दक्षिण भारत के प्रागैतिहासिक समारम्भ का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। अगले अध्याय में इन्हीं उपकरणों के माध्यम से दक्षिण भारत के प्रागितिहास की रूपरेखा प्रस्तुत की जायगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय २

प्रागितिहास और ऐतिहासिक समारम्भ

दक्षिण भारत विश्व के अति प्राचीन सांस्कृतिक गतिविधियों के स्पन्दन की अनुभूति करता रहा। दक्षिण भारत के प्रागितिहास की व्यवस्थित खोज का प्रारम्भ १८६३ ई० में राबर्ट ब्रूसफूट द्वारा हुआ। इसके बाद इस खोज की परम्परा द टैरा, टी० टी० पेटरसन, कृष्णस्वामी, अय्यप्पन, बरकिट, सांकलिया, अलचीन आदि द्वारा पल्लवित होती रही। किन्तु अभी तक शोध का परिणाम सन्तोषजनक नहीं है। दक्षिण भारत के प्रागितिहास का जो भी सूत्र अभी तक उपलब्ध है, वह असम्बद्ध, अपुष्ट और साथ ही साथ समस्यामूलक भी है। अधिकांश पुरातात्विक प्रमाण प्रागैतिहासिक बस्तियों से उठा लिये गये हैं, खोदाई से प्राप्त कम हैं, अतएव उपलब्ध पुरावस्तुओं (आर्टिफैक्ट) का स्तरीय संदर्भ (स्ट्रेटिग्राफी) अत्यन्त दुरूह और भ्रामक है।

दक्षिण भारत में मानव जीवन के समारम्भ का संकेत प्राचीन मानव द्वारा त्यक्त आयुध और उपकरणों से प्राप्त होता है, जो प्रकृत पत्थरों को गढ़, तोड़, अथवा घिस कर बनाये जाते थे। तुलनात्मक पुरातत्त्व विज्ञान के आधार पर विद्वानों द्वारा इन आयुधों के प्रकार और बनावट का बड़ा ही सतर्क विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इनके अध्ययन के आधार पर दक्षिण भारत के प्राचीन मानव के प्रागैतिहासिक उद्भव और विकास की क्षीण रूपरेखा निर्धारित होती है।

नवीनतम अनुमान और अन्वेषण के अनुसार लगभग डेढ़ लाख वर्ष पूर्व मद्रास के आस-पास अति प्राचीन प्रागैतिहासिक संस्कृति का समारम्भ हुआ, जिसको प्राचीन प्रस्तर युग के अन्तिम चरण की सभ्यता से तुलनीय माना जाता है। इस युग के जो प्रस्तर उपकरण मिले हैं वे मुख्यतया मुष्टिकुठार (हैण्ड-एक्स) और तरासने के उपकरण (क्लीवर्स) हैं। तत्कालीन जीवन आखेट ही पर निर्भर था। भोजन के लिये भोज्य प्रकृत रूप में उपलब्ध किया जाता था और मनुष्य का सारा आर्थिक प्रयास केवल 'संग्रह' तक ही सीमित था; वह उत्पादन न करता था। रहने के लिए प्रकृत गुफाओं का उपयोग करता था। यह कहना कठिन है कि ये लोग

 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किस प्रजाति के थे। इस युग के प्राप्त उपकरणों के साथ तत्कालीन मानव का कोई नरकंकाल उपलब्ध नहीं हो सका है। आयुध और उपकरण-प्रकार की दृष्टि से इनके उपकरण दक्षिण पूर्वी अफ्रीका के विक्टोरिया क्षेत्र से प्राप्त उपकरणों से तुलनीय हैं। सम्भवतः यह यही संकेत करता है कि नियति ने अन्य प्रागैतिहासिक प्रजातियों की ही तरह दक्षिण भारत में भी एक प्रजाति की सर्जना की जो अपने सांस्कृतिक लक्षणों में दक्षिणी अफ्रीका जैसे पड़ोसियों के अनुरूप थी।

मध्य प्रस्तर युग में पूर्वकालीन मानव-परम्परा का (जहाँ तक कि दक्षिण भारत से प्राप्त प्रमाणों का अभी तक का अध्ययन संकेत करता है) पल्लवन न हो सका। यह अवसर सम्भवतः दक्षिण भारत की प्रागैतिहासिक संस्कृति के विराम का अवसर था। ऐसा अनुमान होता है कि जिन भौगोलिक कारणों से पूर्व संस्कृति विनष्ट हुई उनके द्वारा काफी दिनों तक दक्षिण भारत में मानव जीवन के लिये उपयोगी और स्थिर वातावरण न प्रस्तुत हो सका और इसी कारण मध्य प्रस्तर युग में किसी सांस्कृतिक गतिविधि का सुयोग भी प्रस्तुत न हो सका।

ज्यूनर और श्रीमती अलचिन की खोजों से सुदूर दक्षिण भारत के तिन्नेवेली जिले में परवर्त्ती प्रस्तर युग के कुछ अवशेष मिले हैं। ज्यूनर ने इस सभ्यता को चार हजार वर्ष प्राचीन माना है। इस सभ्यता के अवशेष बालू के ढूहों (टेरी) से दबे पड़े हैं। इस सभ्यता के लोगों का भी जीवन प्रस्तर आयुधों और उपकरणों पर निर्भर था। यहाँ के लोग मिट्टी के बर्तनों का बनाना नहीं जान सके थे और इनकी जीवनचर्या का मुख्य आधार भी आखेट ही था। मछली पकड़ना भी जानते थे। आवास का कोई स्थायी प्रबन्ध न करते थे। यथासुविधा समुद्र के तटीय समतल स्थानों पर स्थायी बस्तियाँ बना लेते थे। किन्तु कुछ ही दिनों बाद इनका सम्बन्ध सम्भवतः अरब और अफ्रीका की उन प्रजातियों से हुआ जो लघु प्रस्तर उपकरणों (माइक्रोलिथ) का प्रयोग करती थीं। फलतः यहाँ भी मध्यकालीन प्रस्तर युग के कुछ लक्षण स्पष्ट हुये। मध्यकालीन प्रस्तरयुगीन लघु प्रस्तर उपकरणों के व्यवहार की परम्परा पश्चिमी तट पर, पूर्वी तट की अपेक्षा अधिक व्यापक रही।

नूतन पाषाण युग सम्बन्धी शोध अभी अल्प है। ज्ञात प्रमाणों के आधार पर अन्यत्र की भाँति दक्षिणभारत में भी नूतन प्रस्तर युग के दो स्तर उपलब्ध हैं। प्रारम्भिक नूतन प्रस्तर युग में धातु का पता नहीं था और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपकरण प्रस्तर के ही होते थे। यह शुद्ध प्रस्तर युग ही था, जिसमें घिसकर चमकदार बनाये हुये प्रस्तर-कुठार ही अधिकतर व्यवहृत होते रहे। दक्षिण भारत में चमकदार प्रस्तर कुठारों के आधार पर पल्लवित होने वाली संस्कृति के जनक पूर्वी समुद्रतट पर कुछ दिन बसे और फिर बेलारी तथा रायचूर जिलों की वनस्थली में छा गये। कालान्तर में यहीं से पूर्व और पश्चिम की ओर यहाँ के लोग फैले और गण्टूर, वेल्लौर, कुड्डपह, उत्तरी अर्काट चिन्गलेपुट, सलेम और मदुरा की ओर भी बढ़े। इनकी एक शाखा धारवार, महाराष्ट्र और खानदेश की ओर भी पल्लवित हुई।

ब्रह्मगिरि की वैज्ञानिक खोदायी से इस सभ्यता के विषय में थोड़ी जानकारी होती है। ब्रह्मगिरि के स्तर I ए में इस सभ्यता का अति प्राचीन रूप मिला है। इस स्तर की तुलना संगनकल्ल I ए, पिकिलिहल I ए और टी नरसीपुर से भी की जाती है। इस सभ्यता का प्रमाण उतनूर में भी मिला है। कार्बन परीक्षण पद्धति के आधार पर यह पता चला है कि नूतन प्रस्तरयुगीन सभ्यता की आरम्भिक अवस्था का काल २३०० ई० पू० और १५०० ई० पू० के बीच था। इस युग में लोग जलाशयों के आस-पास लकड़ी और घास-फूस की झोपड़ियाँ बना लेते थे तथा आस-पास की वनस्थली को जला कर खेत भी बना लेते थे। धातु का व्यवहार सम्भवतः न जानते थे, किन्तु हाथ से बनाये हुये मिट्टी के बर्तनों का व्यवहार इनमें प्रचलित था। कृषिकर्म के लिये उपयोगी उपकरणों के लिये पत्थर ही एकमात्र माध्यम था। पशुपालन प्रारम्भ हो गया था।

नूतन पाषाण युग की दूसरी अथवा अन्तिम अवस्था में धातु का भी उपयोग होने लगा। इस युग में कृषि और पशु-पालन को अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता मिली और मिट्टी के बर्तनों के निर्माण में चाक का भी उपयोग होने लगा था। सम्भवतः इनके द्वारा ज्ञात प्रथम धातु ताम्र ही था। ताम्र और प्रस्तर मिश्रित सभ्यता (चाल्कोलिथिक) होने पर भी इनकी सभ्यता महाराष्ट्र, गुजरात, कठियावाड़, राजस्थान, सिन्ध, पंजाब आदि अन्य ताम्र-पाषाण काल की सभ्यताओं से तुलनीय नहीं है। किन्तु ब्रह्मगिरि का I बी स्तर संगनकल्ल I बी०, पिकिलिहल I बी०, मास्की I, तक्कलकोट, हल्लूर, पयमपल्ली से तुलना की अपेक्षा रखता है। इन सब स्थानों में नूतन प्रस्तर युग का परवर्त्ती काल १५०० ई० पू० और १००० ई० पू० की अवधि में प्रस्फुटित हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१००० ई० पू० के बाद दक्षिण भारत का प्रागितिहास बड़ा ही समस्या-मूलक है। प्रति-इतिहास युग (प्रोटोहिस्टारिक एज) का अत्यन्त अल्प अवशेष दक्षिण भारत (मैसूर के आस-पास) से अभी तक प्राप्त है किन्तु दक्षिण भारत में एक ऐसी संस्कृति बहुत ही व्यापक थी, जिसके लोग बड़े-बड़े पत्थरों का उपयोग अपने मृतकों के अवशेष की सुरक्षा में करते थे। इसी आधार पर इनकी संस्कृति का नाम बृहत् प्रस्तर युग (मेगालिथिक एज) पड़ गया। सम्भवतः, अपवाद रूप से इन पत्थरों द्वारा निर्मित आवासों का उपयोग रहने के लिये भी होता रहा, किन्तु सामान्यतया इनका सम्बन्ध मृतक संस्कार से ही था। इस प्रकार के मृतक अवशेष दक्षिण भारत के मैसूर, केरल और मद्रास प्रान्तों से मिले हैं। आन्ध्र, महाराष्ट्र और मध्यभारत में भी इस तरह के अवशेषों का प्रमाण उपलब्ध हुआ है। क्षेत्र और प्रदेश भेद से इन बृहत् प्रस्तरीय अवशेषों के प्रकार में भी भेद था। फलतः पुरातत्त्वज्ञों को कई प्रकार के बृहत् प्रस्तरयुगीन मृतक अवशेषों का पता चला है। किन्तु यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इनमें केवल एक ही प्रकार की संस्कृति प्रस्फुटित हुई। इनके सांस्कृतिक लक्षणों की प्रमुख विशेषता यह थी कि ये लोग लोहे के उपयोग जानते थे। इनके द्वारा निर्मित लोहे के अनेक तरह के आयुध और उपकरण उपलब्ध हुये हैं। चाक द्वारा निर्मित मिट्टी के सुडौल और सुन्दर बर्तनों का व्यवहार भी इनमें प्रचलित था। इनके मिट्टी के बर्तन लाल और काले रंग वाले होते थे। लोहे के अतिरिक्त ताँबा और कांसे के बर्तनों का भी व्यवहार और निर्माण इस संस्कृति में प्रचलित था। कृषिकर्म से सुपरिचित थे तथा मुख्य अन्न-उत्पादन चावल था। इस सभ्यता के लोग अलंकारप्रिय थे, धातु और सीसा और रत्नों के मनके तथा माला पहनते थे। कालक्रम की दृष्टि से इस संस्कृति का अस्तित्वकाल १००० ई० पू० और प्रथम ईसवी शती के बीच में निर्धारित किया जा सकता है।

ऐतिहासिक समारम्भ

दक्षिण भारत के प्रागितिहास की दिशा में अभी खोज जारी है। अभी तक का प्रयास स्तुत्य होते हुये भी संतोषप्रद नहीं है, क्योंकि ज्ञात सामग्री से दक्षिण भारत का सांस्कृतिक व्यक्तित्व आंशिक रूप में ही स्पष्ट है। यही स्थिति प्रागैतिहासिक युग के बाद की भी है। ऐतिहासिक युग के समारम्भकाल-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में साहित्यिक स्रोत से क्रमबद्ध रूप से दक्षिण भारत का इतिहास हमें तब तक नहीं मिलता जब तक कि हमें 'संगम साहित्य' नहीं सुलभ होता। 'संगम युग' के पूर्व का कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ दक्षिण भारत से सुलभ नहीं है। आर्य साहित्य में अवश्य ही दक्षिण भारत के सम्बन्ध में कुछ चर्चा मिलती है जिससे दक्षिण भारत के कतिपय राज्यों के अस्तित्व और प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। दक्षिण भारत के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रमाण तभी से सुलभ होने लगता है जब से कि आर्यों का सम्पर्क दक्षिण भारत से स्थापित होना प्रारम्भ हुआ। भौगोलिक स्थिति के कारण यह स्वाभाविक ही था कि दक्षिण भारत का आलोच्य-क्षेत्र (तामिलहम्) दक्षिणापथ के बाद ही आर्यों से परिचित होता। वैदिक साहित्य के 'दक्षिणपद' और 'चेरपद' की व्याख्या कठिन है। 'चेरपद' को प्राचीन चेरवंश से सम्बन्धित करने के लिए और पुष्ट प्रमाण चाहिए। पाणिनि को भी दक्षिणापथ का परिचय न था। पाणिनि के एक सूत्र का वार्तिक करते समय कात्यायन ने, जो सम्भवतः दक्षिण भारत के ही थे, सर्वप्रथम चौथी शती ई० पू० में, सुदूर दक्षिण भारत के पाण्ड्य, चोल और केरल जनपदों का निर्देश किया है। इसके बाद के साहित्य में यत्रतत्र दक्षिण भारत के इन जनपदों का उल्लेख होने लगता है। मेगस्थनीज़ को पाण्ड्य जनपद का पता था। उसने अपने 'इण्डिका' में हेरिक्लीज़ की एक कन्या का उल्लेख किया है, जो पाण्ड्य जनपद की शासिका थी। 'इण्डिका' का विवरण इस प्रकार है : 'हेरिक्लीज़ से भारत में एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसे वह पण्डिया कहता था। उसके लिए उसने भारत का वह भू-भाग निर्धारित किया जो कि दक्षिण में है और समुद्र तक प्रसृत है। उसके अधीन ३६५ ग्रामों की प्रजा थी, और प्रत्येक ग्राम द्वारा क्रमशः एक-एक दिन कर प्रस्तुत करने की व्यवस्था उसने कर दी थी जिससे रानी को प्रतिदिन प्रजा द्वारा परिचर्या कराने की सुविधा उपलब्ध होती रहती थी। जो ग्राम भेंट आदि प्रस्तुत करने में विराम करता उसे दण्ड दिया जाता था।'

इस विवरण से इतना तो स्पष्ट ही है कि मेगस्थनीज़ के समय में उत्तरापथ अथवा मध्य-प्रदेश के लोग पाण्ड्य जनपद की भौगोलिक स्थिति का लगभग ठीक-ठीक परिचय रखते थे। 'अर्थशास्त्र' के रचयिता को यह भी पता था कि पाण्ड्य जनपद का मुख्य पण्य द्रव्य मोती है। कौटिल्य ने (२।११।३) लिखा है कि 'पाण्ड्य कवाटक' उस मोती को कहते हैं जो पाण्ड्य जनपद के पाण्ड्य कवाट नामक स्थान से उपलब्ध होता है। मदुरा (मथुरा) के सूती वस्त्रों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की ख्याति से भी वह प्रभावित था। (२।११।१२०) 'महाभारत' का वर्तमान संस्करण मौर्ययुग में लगभग पूरा हो चुका था। सहदेव के दिग्विजय प्रसंग में 'पाण्ड्य' जनपद का उल्लेख आया है। 'रामायण' में पाण्ड्य के अतिरिक्त चोल और केरल का भी उल्लेख है। (चोलपाण्ड्यान्सकेरलान्। ३।४५।१२) 'रामायण' में 'अर्थशास्त्र' में आये पाण्ड्य जनपद के 'कवाट पाण्ड्य' नामक मोती का भी उल्लेख है। साथ ही इसमें कावेरी नदी और मलय पर्वत की भी चर्चा है। परवर्ती साहित्य में भी दक्षिण भारत के विषय में महत्त्वपूर्ण उल्लेख हैं। इस संदर्भ में पतंजलि के 'महाभाष्य' की भी चर्चा की जा सकती है जिसमें काञ्चीपुरम् और केरल का उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चौथी शती ई०पू० से उत्तरी भारत के साहित्य में दक्षिणापथ के दक्षिण के जनपद और नगरों के नाम प्रसंगवशात् आने लगते हैं। किन्तु आर्य साहित्य में दक्षिण भारत का समग्र भौगोलिक स्वरूप पतंजलि के समय (१५० ई० पू०) तक भी स्पष्ट नहीं हो पाया था। इस बीच स्फुट रूप से कुछ पण्य द्रव्य और कुछ व्यापारिक केन्द्र अथवा व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जनपद ही आर्य अथवा उत्तरी भारत के दृष्टिपथ में प्रस्तुत हो पाये थे। वस्तुतः चौथी शती ई० पू० से ही भारत का दक्षिण भारत के साथ का व्यापारिक सम्बन्ध अभिवृद्धि पर था। अर्थशास्त्र में इस बात का संकेत है कि कौटिल्य के समय में उत्तरापथ के अतिरिक्त दक्षिणापथ का भी महत्त्व था तथा कौटिल्य की दृष्टि में दक्षिणापथ से होकर आने वाले पण्य द्रव्यों का उत्तरापथ से होकर आनेवाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व था। वस्तुतः दक्षिण भारत की, विशेषकर पाण्ड्य जनपद की व्यापारिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए ही मध्यदेश तथा उत्तरापथ के आहत सिक्के विनिमय के माध्यम के रूप में प्रभूत मात्रा में प्रयुक्त होने लगे थे। आहत मुद्राओं के बहुत से जखीरे (छिटपुट रूप में भी) दक्षिण भारत में मिले हैं।

आहत मुद्राओं को मौर्य राजाओं ने अपना 'कोश प्रवेश्य' घोषित किया था। ये सिक्के राजकीय अधिकारी, यथा 'लक्षणाध्यक्ष' और 'रूपदर्शक' द्वारा नियंत्रित किये जाते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इनका निर्माण और व्यवहार केवल मौर्य-सीमा में ही सीमित था। वस्तुतः यह सिक्के राजकीय नियंत्रण में रहते हुए भी व्यापारियों द्वारा प्रस्तुत होते थे और समस्त देश के व्यापारिक आदान-प्रदान में इनकी मान्यता थी। दक्षिण भारत से प्राप्त होने वाली आहत-मुद्राओं के प्रमाण उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के बीच होने वाले व्यापारिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। इन दो सांस्कृतिक भूखण्डों के राजनयिक सम्बन्धों को मौर्यकालीन सिद्ध करने के लिए ज्ञात प्रमाण पर्याप्त नहीं हैं। किन्तु इन सम्बन्धों की तात्विक विवेचना यहाँ लाभप्रद है।

ग्यारहवीं शती के एक कन्नड अभिलेख में नन्दों के दक्षिणी अभियान की एक आनुश्रुतिक परम्परा सुरक्षित है जिससे यह पता चलता है कि नन्द राजाओं की स्वायत्तता में कुन्तल का क्षेत्र था। किन्तु इस परवर्त्ती अभिलेख की पुष्टि के लिये कोई समकालीन अथवा प्राचीन प्रमाण नहीं है। चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्य-सीमा दक्षिण भारत में निर्धारित करना भी एक विवाद का विषय है। जैन अनुश्रुतियों की मान्यता है कि चन्द्रगुप्त राजत्व का परित्याग करके मुनि के रूप में श्रवणवेलगोल चला आया जहाँ उसने 'सल्लेखन' (उपवास) करते-करते कायोत्सर्ग किया। इस अनुश्रुति की सम्पुष्टि करने वाले अनेक ऐसे अभिलेखीय प्रमाण हैं जो श्रवणवेलगोल से ही उपलब्ध होते हैं और काफी पुराने हैं। छठी शती से लेकर पन्द्रहवीं शती तक के श्रवणवेलगोल अभिलेखों में से कई अभिलेख इस तथ्य का अनुमोदन करते हैं। इन अभिलेखों की यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें कहीं भी चन्द्रगुप्त को 'मौर्य' नहीं कहा गया है। चन्द्रगुप्त को 'मुनीन्द्र' अथवा 'मुनिपति' के रूप में सम्बोधित किया गया है। वैसे राजत्व का परित्याग करके संन्यास धारण करने वाले राजा के लिए 'मुनीन्द्र' और 'मुनिपति' का सम्बोधन सर्वथा उचित है, किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य और चन्द्रगुप्त मुनि के समीकरण की समस्या की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। और यदि यह समीकरण हो भी तो मुनिरूप में चन्द्रगुप्त मौर्य का श्रवणवेलगोल में शरीरत्याग उसके उस प्रदेश में पूर्व राजत्व का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं प्रस्तुत करता है। किन्तु इसके पौत्र अशोक के अधीन दक्षिण भारत का क्षेत्र था। उसकी दक्षिणी सीमा मैसूर से निर्धारित की जा सकती है क्योंकि उसके अभिलेख सिद्धपुर, ब्रह्मगिरि, जतिङ्ग रामेश्वर और मास्की से उपलब्ध हुए हैं। सुवर्णगिरि जो मैसूर के आस-पास ही था, अशोक के दक्षिणी क्षेत्र की राजधानी था। किन्तु चोल, पाण्डय, सतियपुत्र और केरलपुत्र की स्थिति सर्वथा स्पष्ट था कि वे मौर्य सीमा के अन्तर्गत नहीं थे। इन जनपदों अथवा प्रजातियों के नाम अशोक के अभिलेखों में (शिलालेख द्वितीय और त्रयोदश) सीमान्त राजाओं के रूप में आये हैं, जिनसे अशोक केवल मैत्री सम्बन्ध रखने को इच्छुक था। यद्यपि विशाल मौर्य साम्राज्य की तुलना में ये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चार राज्य पूर्वीघाट और पश्चिमीघाट के आसपास सकुँचे पड़े थे, किन्तु इनके राजनीतिक व्यक्तित्व और स्वतन्त्र स्थिति से अशोक इतना प्रभावित था तथा इन राज्यों की भावात्मक स्थिति के प्रति इतना सजग था कि इसने इस क्षेत्र में 'भेरिघोष' की अपेक्षा 'धर्मघोष' का ही प्रचार उचित समझा और 'धर्मविजय' की नीति अपनायी। उपरिलिखित अभिलेखों में शिलालेख द्वितीय का विवरण अधिक पूर्ण है। इस अभिलेख का विवरण इस प्रकार है :—

'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य हैं वहाँ जैसे, चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णि अन्तियोक नाम यवनराज और जो उस अन्तियोक के सीमान्त राजा हैं उन सबके देशों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा, एक मनुष्य की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। औषधियाँ भी मनुष्यों और पशुओं के लिए जहाँ-जहाँ नहीं थीं वहाँ-वहाँ लायी और रोपी गयी हैं। इस तरह के मूल और फल भी जहां नहीं थे सब जगह लाये और रोपे गये हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगवाये और कुएँ खुदवाये गये हैं।'

यह कहना कठिन है कि तुंगभद्रा और कृष्णा की सीमा पार कर मास्की (मैसूर) तक मौर्य साम्राज्य का विस्तार किसने किया। क्या यह क्षेत्र मौर्यों को नन्दों के उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ? तमिल साहित्य में नन्दों के धन और ऐश्वर्य का उल्लेख है। किन्तु हम देख चुके हैं कि कुन्तल तक नन्दों के राज्य का विस्तार होना प्रमाणित नहीं है। चन्द्रगुप्त मौर्य की स्थिति भी स्पष्ट नहीं है। जैन अनुश्रुतियों के संदर्भ में, जैसा हम अभी देख चुके हैं, चन्द्रगुप्त मौर्य मुनि के रूप में श्रवणवेलगोल (मैसूर के पास) कायोत्सर्ग तो कर सकता है, किन्तु राजत्व का उपभोग नहीं। विदेशी विवरण में प्लूटार्क ने यह तो लिखा है कि 'चन्द्रगुप्त ने ६०००००० सैनिकों को लेकर समस्त भारत को रौंद डाला' किन्तु यह विवरण यह स्पष्ट नहीं करता कि इस विजय में दक्षिण भारत का कितना भाग शामिल था। तारानाथ का यह विवरण कि 'चाणक्य ने सोलह नगरों को रौंद कर विन्दुनगर को पूर्व से पश्चिम सागर तक के क्षेत्र का अधिराजत्व दिया' भी बड़ा भ्रामक है। इस संदर्भ में सोलह नगरों और पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र के बीच आने वाले क्षेत्र की स्थिति की वास्तविक पहचान अभी तक सम्भव नहीं हुई है। ज्ञात प्रमाण के आधार पर अशोक के विषय में जहां यह कहना सम्भव है कि उसने कलिङ्ग-विजय किया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह कहने का कोई आधार नहीं है कि उसका इस तरह का कोई युद्ध या विजय दक्षिणभारत में भी हुआ।

इस प्रकार यद्यपि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहना कठिन है कि किस मौर्य नृप द्वारा दक्षिण भारत विजित हुआ, यह एक निर्विवाद सत्य है कि मौर्यों के आधिपत्य में मैसूर तक का क्षेत्र आ चुका था और चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र तथा केरलपुत्र उसके प्रत्यन्त राज्य थे।

मौर्यों के दक्षिण अभियान की ध्वनि 'संगम साहित्य' में भी है। करिकाल के समकालीन अगस्त्य गोत्रीय मामूलनार ने, जो संगम साहित्य का सुप्रसिद्ध प्रणेता था, अपनी कुछ कविताओं में मौर्य[1] अभियान का वर्णन किया है। 'अहम्' २५० और २८१ के सम्यक् अध्ययन से मौर्य अभियान के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकालना सम्भव है :—

(१) मौर्यों का अभियान मदुरा के दक्षिणपूर्व में स्थित पोदिइल पर्वत तक था।

(२) मौर्यों की अग्रिम सेना का नेतृत्व कोसर और वडुकर प्रजाति के लोग कर रहे थे।

(३) मौर्यों ने पोदिइल तक पहुँचते हुये वडुकर प्रजाति पर भी अधिकार कर लिया था। जैसा कि शब्दार्थ से पता चलता है, ये वडुकर तमिलों के उत्तर में बसते थे। इन वडुकरों को तेलुगु और कनारी प्रजातियों के पूर्वज के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

वडुकर प्रजाति तमिलों से भिन्न थी। पलुनार की दो कविताओं से ऐसा संकेत मिलता है कि पोदिइल पर्वत को लांघना तमिल जनपद की सांस्कृतिक और राजनीतिक परिधि को लांघना था।

मामूलनार के उपर्युक्त विवरण का समर्थन 'संगम साहित्य' के दो अन्य कवियों, परम कोइनार और कल्लिल अत्तिरैयनार द्वारा भी होता है।

'कुराल' के टीकाकार परिमीलालगर ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है कि 'तमिलगम्' (= तमिलहम्) के 'चेरचोलपाण्ड्य' राज्य की उत्पत्ति सृष्टि के

---

१. कतिपय पाण्डुलिपियों में पाठभेद के कारण मोरियर (मौर्य) की जगह ओरियर पाठ है। किन्तु 'मोरियर' और 'ओरियर' का समीकरण 'मौर्य' से सर्वथा समीचीन है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आरम्भ से है। इस अनुश्रुति का इतिहास के संदर्भ में कोई अर्थ न होते हुये भी यह कहा जा सकता है कि इन राज्यों का ऐतिहासिक समारम्भ अतिप्राचीन है। उत्तर भारत के साहित्यिक साक्ष्य और अशोक के अभिलेखों में जिस रूप में इन राज्यों की चर्चा है, इससे यह नहीं संकेत मिलता कि उस समय इन राज्यों की राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थिति प्रारम्भिक अथवा अविकसित थी। आर्थिक दृष्टि से ये राज्य अखिलभारतीय व्यापार में अपना स्थान रखने लगे थे, और राजनीतिक दृष्टि से इनकी मान्यता, सर्वशक्तिमान मौर्यनृप अशोक की दृष्टि में भी, योन कम्बोज आदि स्वतंत्र राजाओं के समकक्ष थी। तमिल भाषा विकसित थी और उसका व्याकरण भी निश्चित होने लगा था। संगमयुग के 'तोल्कप्पियम्' की व्याकरण सम्बन्धी मान्यताएँ और सिद्धान्त संगमयुग के पूर्व भी स्थिर किये जाने लगे थे। साहित्य की दृष्टि से भी 'संगम युग' की उपलब्धियाँ इन्हीं पूर्व युगों के प्रयासों के प्रति आभारी हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ३

संगम युग

'संगम' शब्द संस्कृत भाषा का है जिसका अर्थ—'परिषद्' अथवा 'गोष्ठी' है। तमिल 'संगम' का तात्पर्य ऐसी परिषदों अथवा गोष्ठियों से है जिनमें तमिल कवि और विद्वान एकत्र होते थे। ऐसी गोष्ठियों की आयोजना और संरक्षकता पाण्ड्य नृपों द्वारा हुई। परम्परा के अनुसार तीन 'संगम' आयोजित हुये। तृतीय संगम वैगाई नदी के किनारे मदुरा नगर में आयोजित हुआ था। इन 'संगमों' के माध्यम से जो साहित्य संकलित किया गया वह 'संगम साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध है। 'संगम साहित्य' तमिल साहित्य का स्वर्ण-युग है। सामान्यतया 'संगम काव्य' का विषय श्रृंगार और वीरगाथा है जिसे 'अहम्' और 'पुरम्' के नाम से जाना जाता है। ललित काव्य के माध्यम से तत्कालीन जगत् और जीवन की अच्छी झाँकी संगम साहित्य में प्रस्तुत की गयी है। फलतः 'संगम साहित्य' अपने समय के इतिहास और संस्कृति का प्रामाणिक आधार प्रस्तुत करता है। 'संगम साहित्य' न केवल तमिल साहित्य का मानदण्ड स्थिर करता है अपितु तत्कालीन जीवन और समृद्धि का भी प्रतिमान प्रदर्शित करता है। एतदर्थ 'संगम साहित्य' का अध्ययन इतिहास और संस्कृति की जानकारी के लिये अनिवार्य है।

'संगम साहित्य' की सामान्य रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है। यह साहित्य तीन वर्गों में विभक्त है—(१) पत्थुप्पात्तु (२) इत्थुथोकै और (३) पदिनेन कीलकन्क्कु।

'पत्थुप्पत्तु' में दस संक्षिप्त पद हैं, जिनमें दो नक्कीरर, दो रुद्रन कन्ननार और ६ क्रमशः मरुथनार, कन्निआर, नथ्थथनार, नप्पूथनार, कपिलर और कौशिकनार द्वारा रचित हैं। नक्कीरर के पद अपनी साहित्यिक और भावात्मक विशेषताओं के लिए तो प्रसिद्ध ही हैं, साथ ही इन पदों में चोलराज करिकाल और पाण्ड्य राजा नेदुञ्ज-जेलियन् का विवरण राजनीतिक संदर्भ में भी उपलब्ध है। रुद्रन के पदों में पुहार और काञ्ची का जो विवरण है उसकी ऐतिहासिकता अन्य साक्ष्यों से भी पुष्ट होती है। इसी प्रकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य पदकारों की कृतियों में तत्कालीन जीवन और समृद्धि की झाँकी सुलभ है। ये सभी पद ईसवी की दूसरी शती में रचित प्रतीत होते हैं।

'इत्थुथोकै' कविताओं के आठ संग्रह हैं। प्रत्येक संग्रह में एकाधिक कवियों की कविताओं का संग्रह है और इनमें तत्कालीन जीवन, आचार आदि का अच्छा विवरण है। इनमें राजनीतिक घटनाओं का यद्यपि अभाव है किन्तु इन कविताओं से 'संगम युग' के ऐतिहासिक राजाओं की अच्छी नामावली प्राप्त होती है।

'पदिनेनकीलकन्नकु' में अठारह उपदेशात्मक काव्य हैं जिनमें तिरुवल्लुवर का 'कुराल' सर्वश्रेष्ठ है। कुराल को तमिल साहित्य का 'हीरा' कहना अधिक उचित है। इस वर्ग के शेष काव्य-संग्रहों में 'ना नरापत्थु' में चार पृथक् संग्रह हैं जिनके नाम 'कारनारपत्थु', 'कलवलै', 'नारपत्थु', 'इनैयवै नारपत्थु' और 'इन्न-नारपत्थु हैं। 'ऐन्थिनै' में भी प्रेम और विरह के चार मार्मिक संग्रह हैं। अन्य भावात्मक कविता संग्रहों में 'तिरिकदुकम', 'सिरुपंचमूलम्', 'आचार कौवे', 'पलमोलि', 'मुदुमोलिक काँची', 'इन्निलै' और 'इलादि' हैं।

'संगम युग' में ऐसा भी साहित्य प्रस्तुत किया गया जो ठेठ 'संगम साहित्य' के अन्तर्गत तो नहीं आता किन्तु इस युग की अच्छी झाँकी प्रस्तुत करता है। इस कोटि में पांच महाकाव्यों को रखा जा सकता है जिनमें 'शिल्पदिकारम्' प्रसिद्ध है। शेष अन्य महाकाव्य 'मणिमेखलै', 'जीवक चिन्तामणि', 'वलयपति' और 'कुण्डलकेशि' हैं। अन्तिम दो उपलब्ध नहीं हैं। इनके अतिरिक्त अन्य महाकाव्य भी है यथा 'यशोधराकाव्यम्', 'चूलमणि', 'उदयनकाव्यम्', 'नागकुमारकाव्यम्' और 'नीलकेशि'।

परवर्ती काल (दशवीं शती) में पाण्ड्य राजाओं की प्रेरणा से संस्कृत महाकाव्य 'महाभारत' का भी तमिल संस्करण प्रस्तुत किया गया।

इन महाकाव्यों का रचनाकाल निर्धारित करना एक कठिन कर्म है। इनकी तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे 'संगम युग' की कृति मानते हैं किन्तु अब अधिकांश लोग 'शिल्पदिकारम्' और 'मणिमेखलै' को संगम युग की कृतियाँ न मानकर उन्हें सातवीं और आठवीं शताब्दी की रचनाएँ मानते हैं। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि 'संगम युग' की साहित्यिक मान्यताएँ और परम्पराएँ 'संगम युग' तक ही सीमित न रहीं अपितु इस परम्परा और संदर्भ में अनेक परवर्ती ग्रंथ भी लिखे गये हैं। युगभेद के कारण रचनाओं का आन्तरिक स्वरूप परवर्ती काल में भी बना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा। ऐसे परम्परागत साहित्य का अध्ययन 'संगम युग' के इतिहास और संस्कृति की जानकारी के लिए अपरिहार्य है।

पारम्परिक ख्याति के अनुसार दक्षिण भारत के इतिहास में तीन 'संगम' हुये। प्रथम 'संगम' ऋषि अगस्त्य की अध्यक्षता में हुआ जिसमें कवि रूप में मनुष्यों के अतिरिक्त देवताओं ने भी भाग लिया। इस 'संगम' की आयोजना मदुरा नामक किसी ऐसे स्थान में हुई थी जो आज समुद्र में विलीन हो चुका है। यह प्रथम संगम ४४०० वर्ष चलता रहा जिसकी संरक्षकता पाण्ड्य वंश के ८० राजाओं ने की। इसमें ४४९९ कवियों ने भाग लिया था। इस 'संगम' के महत्त्वपूर्ण संग्रह 'अकत्तियम्' 'परिपदाल', 'मुदुनारै', 'मुदुकुरुकु' और 'कलरियाविरै' थे।

दूसरे 'संगम' का आयोजन कपाटपुरम् में हुआ। यह नगर भी समुद्र में विलीन हो गया तथा इसके भी अध्यक्ष अगस्त्य ही थे। यह 'संगम' भी दीर्घकालीन रहा और ३६०० वर्ष तक चलता रहा। पाण्ड्य राजाओं की ५९ पीढ़ियों ने इसे संरक्षकता दी। इस सत्र में ३७०० कवियों ने भाग लिया। इस 'संगम' में ८१४९ ग्रन्थों का संग्रह किया गया जिनमें 'अकत्तियम्', 'तोलकप्पियम्', 'मापुरानम्', 'कलि', 'कुरुकु', 'वेन्डाली' और 'ब्यालमालै' भी थे। 'तोलकप्पियम्' को छोड़ शेष सभी संग्रह जलप्लावन में नष्ट हो गये।

ये दोनों ही 'संगम' अनैतिहासिक हैं, और इनका आधार कोई परवर्ती कल्पना प्रतीत होती है। केवल तीसरे 'संगम' की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। इसका आयोजन सुज्ञात और ऐतिहासिक नगरी मदुरा में किया गया था। यह 'संगम-सत्र' १८५० वर्षों तक चला तथा इसको पाण्ड्य देश के ४९ पीढ़ी के राजाओं का संरक्षण मिला। इसके सदस्य कवि और विद्वान् ४९ थे किन्तु इस संगम के लिए ४४९ कवियों ने अपनी रचनायें प्रस्तुत की थीं। इस 'संगम' का सभापतित्व नक्कीरर ने की तथा इसके और प्रमुख संग्रह 'नेदुनथोकै', 'कुरुनथोकै', 'नत्रिनै', 'अनिकुरुनुरु', 'पदित्रुपात्तु', 'नूत्रैम्बत्थु', 'परिपादल', 'कूत्थु', 'वरि', 'परिसै' और 'सित्रैसै' हैं। इन संग्रहों में अधिकांश लुप्त हो गये हैं; कुछ ही प्राप्त हैं।

परम्परा के अनुसार तीनों 'संगमों' के बीच दस सहस्र वर्षों की अवधि बीती किन्तु कुछ विद्वान, तीनों 'संगमों' की आनुश्रुतिक परम्परा में आंशिक विश्वास के कारण एक सहस्र वर्षों का समय निर्धारित करते हैं। अर्थात्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम से तृतीय 'संगम' का समय ५०० ई० पू० से ५०० ईसवी तक रहा होगा।

किन्तु 'संगम-युग' को इतना दीर्घकालीन मानना एक भावात्मक आग्रह मात्र है। कारण, प्रथम और द्वितीय 'संगम' का न तो कोई संग्रह प्राप्त है और न उसका कोई सदस्य या संरक्षक ही ऐतिहासिक है। तृतीय 'संगम' का विवरण भी कम अनैतिहासिक नहीं है। इस 'संगम' का जो संग्रह प्राप्त है, उसके अध्ययन से विद्वानों ने यह निष्कर्ष ठीक ही निकाला है कि 'संगम साहित्य' ईसवी सन् के बाद का है और इसका वर्तमान संस्करण चौथी शती (कुछ इसे पाँचवीं शती तक का भी मानते हैं) तक पूरा हो चुका था। किन्तु यह भी स्मरणीय है कि 'संगम' शब्द उतना प्राचीन नहीं है जितना इस नाम से संकलित साहित्य। प्रचलित अर्थ में 'संगम' शब्द का सर्वप्रथम व्यवहार सातवीं शती के पूर्व नहीं हुआ। आठवीं शती के 'इरैयनार अगप्पो-रूल' नामक टीका ग्रन्थ से पता चलता है कि 'संगम साहित्य' के बहुत से चरित और नायक ऐतिहासिक थे। इनके लिए अभिलेखीय साक्ष्य भी सुलभ हैं।

राजनीतिक विवरण

'संगम साहित्य' में प्रसंगवश तमिल क्षेत्र के अति प्राचीन राज्यों का विवरण सुलभ है। इस बीच तमिल प्रदेश में तीन राज्य चेर, चोल और पाण्ड्य थे। दक्षिण पश्चिम में चेर, दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व में पाण्ड्य और उत्तर पूर्व में चोलों का राज्य था। इन राज्यों की भौगोलिक स्थिति आधुनिक भौगोलिक नामों के आधार पर इस प्रकार समझी जा सकती है। चित्तूर उत्तरी अर्काट, मद्रास से चिन्गलेपुत तक, दक्षिणी अर्काट, तंजोर, त्रिचनापल्ली प्राचीन चोल राज्य के क्षेत्र थे। किन्तु अति प्राचीन 'तोण्डमण्डलम्' की सांस्कृतिक सीमा के अन्तर्गत चित्तूर, उत्तरी अर्काट और मद्रास से चिन्गलेपुट का ही क्षेत्र आता था। पाण्ड्य जनपद में कावेरी के दक्षिण का प्रदेश, अन्नमलायै पर्वत के पूर्व का वह क्षेत्र था जो कि पूर्व में पूर्वीघाट और दक्षिण में कन्या कुमारी तक फैला हुआ था। चेर राज्य के अधीन आधुनिक केरल राज्य था, साथ ही कोम्बक्टूर का कुछ भाग और सलेम, जिसे प्राचीन कोङ्गु जनपद कहते थे, चेर राज्य के प्रभुत्व में प्रायः आ जाया करता था। वस्तुतः कोङ्गु जनपद चेर सामान्तों के ही अधीन था। कुर्ग, नीलगिरि और दक्षिण कनारा का प्रदेश एक अन्य राज्य के शासन में था जिसे 'कोशर' कहते थे। कुछ विद्वान कोशर की पहचान अशोककालीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सतियपुत्र से करते हैं। एक अन्य राज्य की स्थिति दक्षिण और मध्य मैसूर राज्य में थी जो गंग राजकुल के प्रभुत्व में था।

'संगम साहित्य' इस तथ्य का संकेत देता है कि तत्कालीन राजनीतिक जीवन में 'चेरचोलपाण्ड्य' अथवा 'चेरपाण्ड्यचोल' एक प्रचलित राजनीतिक सूत्र था तथा 'संगम युग' की समस्त सांस्कृतिक गतिविधि का आधार यही राजनीतिक त्रिकोण था। यद्यपि इन तीन राज्यों से सम्बद्ध अनेक प्रसंग 'संगम साहित्य' में हैं तथा बहुत से असम्बद्ध राजाओं को नामावली भी 'संगम साहित्य' से प्राप्त होती है तथापि समस्त नामावली के सम्यक् अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव है कि 'संगम साहित्य' में केवल सौ-डेढ़ सौ वर्षों के बीच घटने वाली राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख है। इस अवधि में विभिन्न राजवंशों की चार या पांच पीढ़ी के राजाओं ने राजत्व का उपयोग किया होगा। खेद है कि चेर को छोड़ शेष राज्यों की क्रमबद्ध वंशपरम्परा 'संगम साहित्य' में सुरक्षित नहीं है।

चेर राज्यवंश

तमिल कवियों ने सम्भवतः कल्पना के आधार पर चेर राज्य वंश की प्राचीनता महाभारत युद्ध (अनुमानतः १४०० ई० पू०) से सिद्ध की है। प्रथम ऐतिहासिक राजा का नाम उदियञ्जीरल् ज्ञात होता है जो लगभग १३० ईसवी में चेर जनपद का शासक था। इसका पुत्र नेदुञ्जीरल् आदन् था (१५५ ई० लगभग) जिसने मालावार तट पर स्थित यवनों को बन्दी बनाया था। सम्भवतः यवनों का संदर्भ यहाँ उन रोम और अरब के व्यापारियों से है जो व्यापार की दृष्टि से भारत की यात्रा किया करते थे। इसके सम्बन्ध में अनुश्रुति है कि इसने सात राजाओं को पराजित कर अधिराजत्व प्राप्त किया था। इसने 'इमयवरम्बन्' की भी उपाधि धारण की थी, जिसके आधार पर कहा जाता है कि इसने हिमालय तक अपनी राज्य सीमा का विस्तार किया था। किन्तु यह कवि कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्त में यह किसी चोल नृप से युद्ध करते समय मारा गया।

इसके बाद इसका भाई पल्यानैशेल्केलु कुत्तुवन् चेरों का स्वामी बना और पचीस वर्ष तक शासन करता रहा। इसने कोङ्गु देश और अगप्पा दुर्ग पर विजय किया। 'इमयवरम्बन् नेडुन्जीरल् आदन्' के दो पुत्रों के भी शासन का

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्णन 'संगम' काव्य में मिलता है। १७५ ई० के लगभग आदन् के पुत्र कलङ्गा-यक्कणि नारमुडिच्छच्छीरल का शासन प्रमाणित होता है। इसका संघर्ष नारमुडी से हुआ था। किन्तु इसके बाद चेरवंश का अधिष्ठाता आदन् का दूसरा पुत्र सेनगुट्टुवन् हुआ, जो इस वंश का सबसे प्रतापी नृप था। उसके शासन का समारम्भ १८० ई० के आसपास हुआ। इसकी कीर्ति का गान 'संगम युग' के प्रसिद्ध कवि परर्णर ने मुक्तकंठ से किया है। यह अच्छा अश्वारोही था और इसके पास अच्छी नौसेना थी। पूर्वी समुद्र से पश्चिमी तट तक अपने राज्य का विस्तार करके आस-पास के द्वीपों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। इसके अधीन अनेक दुर्ग थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी सामन्त मूहूर और वियालूर को, जो नन्नन प्रदेश का स्वामी था, पराजित कर बड़ी कीर्ति अर्जित की थी। हिमालय तक राज्यविस्तार की किंवदन्ती इसके सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध थी। वीरोचित गुणों से भरपूर होने के साथ-साथ यह विद्या-व्यसनी और काव्यानुरागी भी था। इसकी संरक्षकता में धर्म का भी प्रसार हुआ और 'पत्तिनी' नामक धर्म सम्प्रदाय को बड़ी लोकप्रियता मिली। 'पत्तिनी' पातिव्रत धर्म की बहुमान्य अधिष्ठात्री देवी थीं।

सेनगुट्टुवन् के उत्तराधिकारियों की संख्या देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि उसके उत्तराधिकारियों में कुछ ने एक साथ सहवंश के रूप में समानरूप से राजत्व का उपभोग किया होगा और मुख्य चेर राजवंश कई उपशाखाओं में विभक्त हो गया होगा।

इन सभी राजाओं का शासन-काल भी अल्पकालीन था। प्रमुख चेरवंश के साथ ही साथ कुछ शाखा राजवंश भी प्रचलित थे जो चेरकुल से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। सेनगुट्टुवन् के बाद के चेरवंशीय नृपों में महत्त्वपूर्ण अन्दुवन् और उसका उत्तराधिकारी शेल्वक्कुडगोन वालि आदन्, अै और पारि थे। ये सभी ब्राह्मण धर्म के समर्थक और साहित्य संस्कृति के पोषक थे। समर विजेताओं के रूप में भी तत्कालीन साहित्य में इनका उल्लेख है।

उपर्युक्त नृप चेरों की उपशाखा के थे। मुख्य शाखा का संरक्षण सेनगुट्टुवन् का पुत्र पेरुञ्जीरल इरुमपोरै (लगभग १९० ई०) कर रहा था, जो एक प्रतापी राजा था। इसने कलुवूल और अडिगैमान् सामन्तों पर अपना प्रभाव स्थापित किया था। अडिगैमान् इरुमपोरै का प्रतिद्वन्द्वी था, जिसने उसके विरुद्ध चोल और पाण्ड्य राज्यों को मिला कर एक सामरिक संघ का संगठन किया था। इरुमपोरै ने अकेले ही अडिगैमान् के नेतृत्व में संगठित सामरिक संघ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को पराजित किया था तथा अडिगैमान् के दुर्ग तगदूर को अपने अधीन किया था। बाद को अडिगैमान् इरुमपोरै का मित्र हो गया तथा उसने इरुमपोरै को नन्नन प्रदेश पर अधिकार करने में सहायता की।

परवर्ती चेर राजाओं में कडक्को इलञ्जीराल इरुमपोरै (लगभग १९० ई०) ही उल्लेखनीय है। इसके समय में भी चेरों का संघर्ष चोल और पाण्ड्यों से हुआ था जिसमें सफलता कड़क्को इलञ्जीराल इरुमपोरै को ही मिली थी। अन्तिम ज्ञात चेर नृप सेईयै था जिसका शासनकाल २१० ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। इसका समकालीन पाण्ड्य नृप नेडुञ्जेलियन था जिसने इसे हटा कर चेर राज्य को सदा के लिये दक्षिण भारत की राजनीति में महत्वहीन कर दिया।

चोलराजवंश

प्राचीनता की दृष्टि से चेरों का जो भी महत्त्व हो, राजनीतिक संदर्भ में चोल और पाण्ड्य का चेरों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व था। चेर नृपों के विषय में उपयुक्त विवरण बहुत कुछ विरुदात्मक है, जिसकी ऐतिहासिकता सर्वथा सिद्ध नहीं है, साथ ही चेर नृपों का वर्णन बहुत कुछ पारम्परिक भी है। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण चेर राजाओं ने 'इमयवरम्बन्' की उपाधि धारण की और सभी 'संगम साहित्य' में वे धर्म और साहित्य के संरक्षक सिद्ध किये गये हैं। मनोरञ्जक बात तो यह है कि इसी तरह का पारम्परिक और आनुश्रुतिक विवरण कतिपय चोल और पाण्ड्य राजाओं के विषय में भी प्राप्य है। तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवरण से यही प्रतीत होता है कि राजनीतिक शक्तिसंतुलन में चेर नृप चोल और पाण्ड्य नृपों की अपेक्षा गौण स्थान रखते थे। वे कभी चोलों के विरुद्ध पाण्ड्यों से और कभी पाण्ड्यों के विरुद्ध चोलों से मिलकर सामरिक संघ बनाते थे तथा इस प्रकार अपनी राजनीतिक स्थिति सुरक्षित रखने के लिए सचेष्ट रहते थे।

'संगम साहित्य' में कई चोलराजाओं का विवरण है किन्तु विवरण इतना अपूर्ण और संदर्भहीन है कि सभी चोलनृपों की आनुवंशिक स्थिति और उनकी तिथि परम्परा का निर्धारण बड़ा ही कठिन है। सम्भवतः चोल वंश एकाधिक शाखाओं में विभक्त भी था। मुख्य चोल परम्परा के नृपों में करिकाल और कोचेनगणान् के नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। करिकाल को वस्तुतः 'संगमयुग' का सबसे प्रतापी शासक मानना चाहिए क्योंकि इस युग की राजनीतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों के मूल में करिकाल के उद्योगों का बड़ा योग था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करिकाल का प्रारम्भिक जीवन दुर्भाग्यपूर्ण था। बचपन में उसका पैर जल गया था और बाद को वह युवराजत्व से भी वञ्चित कर दिया गया। इसके शत्रुओं ने उसे बन्दी बना दिया किन्तु अवसर पाते ही उसने न केवल बन्दी जीवन का अन्त किया अपितु १९० ई० के आसपास चोल संप्रभुता का स्वामी बन गया। वह प्रचण्ड शासक के रूप में शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गया तथा पाण्ड्य और चेरों को वेणी (तंजोर) के पास पराजित कर अपनी सामरिक कुशलता और श्रेष्ठता की धाक न केवल चेर और पाण्ड्य आक्रामकों पर आरोपित की अपितु उनके सहयोगी अन्य एकादश सामन्त सदस्यों को भी वशीकृत किया।

वेणी का युद्ध करिकाल के महत्त्वपूर्ण जीवन की एक प्रारम्भिक उपलब्धि थी। किन्तु अभी उसके प्रतिद्वन्द्वी शेष थे, जो उसके विरुद्ध सामरिक संघ बना रहे थे। ऐसे ९ सामन्त रजाओं के विरुद्ध उसने युद्ध छेड़ा तथा उन्हें वाहैप्प-रण्डलै के युद्ध में पराजित किया। इस प्रकार उसकी राजनीतिक स्थिति कावेरी की घाटी में पूर्णतया दृढ़ हो गयी।

करिकाल की उपलब्धियों से सम्बन्धित अनेक ऐसे वृत्तान्त मिलते हैं जिन्हें इतिहास की परिधि में लाना कठिन है। उसके संदर्भ में यह कहना कि उसने हिमालय तक धावे किये और उत्तरापथ के वज्र, मगध और अवन्ति जनपदों को अपने आधीन किया, एक साधारण सा पारम्परिक विवरण मात्र है। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार उसने सिंहल विजय किया और वहाँ से १२००० बन्दी प्राप्त कर उन्हें पुहार के समुद्र-पत्तन के निर्माण में नियोजित कर दिया। उल्लेखनीय है कि 'महावंश' में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं है, यद्यपि परवर्त्ती सिंहली अनुश्रुतियों में इसकी चर्चा है।

करिकाल विद्याव्यसनी था और विद्वानों का आदर करता था। ब्राह्मणधर्म का अनुयायी और आश्रयदाता भी था। जनहित के कार्यों में इसकी बड़ी रुचि थी। पुहार पत्तन का निर्माण इसी ने कराया था तथा कावेरी के मुहाने को बाँधकर उसकी परिवर्तित धारा का उपयोग सिंचाई में किया था। व्यक्तिगत जीवन में वह आनन्दी और शृङ्गारप्रिय था। कला और व्यापार को इसके द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिला।

करिकाल के ही समय में काञ्ची में तोण्डैमान् इलन्दिरैयन् का अभ्युदय हो रहा था। करिकाल इले इलन्दिरैयन् का सम्बन्ध विवाद का विषय है। कुछ इसे करिकाल का सामन्त भी मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काँञ्ची के राजवंश का करिकाल से अच्छा और मैत्रीपूर्ण संबन्ध था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करिकाल के उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्भावना है कि नलनगिल्ली और मावलत्तान दोनों ही करिकाल के पुत्र थे। करिकाल के बाद चोलों की स्थिति कुछ निर्बल हो गयी। चोलों की ही एक प्रतिद्वन्द्वी शाखा नेडुनगिल्ली के नेतृत्व में संगठित हुई जिसने नलनगिल्ली के विरोध में गृहयुद्ध छेड़ दिया। इस स्थिति का लाभ चेर और पाण्ड्य प्रतिद्वन्दी राजाओं ने भी उठाया और इस गृहयुद्ध को बढ़ावा दिया। यह गृहयुद्ध दीर्घकालीन रहा, जिसका अन्त तभी हुआ जब कि कारियारु के संग्राम में नेडुनगिल्ली मारा गया।

इन्हीं दोनों का समकालीन कलिवलवन् भी था जिसका राजनीतिक केन्द्र उरैयूर में प्रतिष्ठित था। इसने चेरों को पराजित कर उनकी राजधानी करूर पर अधिकार कर लिया था। अन्य राजाओं में जो कि चोलों की मुख्य शाखा अथवा उपशाखा से सम्बन्ध रखते थे, कोप्परुञ्जोलन् और कोच्चेनगणान् ही कुछ महत्त्व के थे। 'संगम साहित्य' में इनके सम्बन्ध में अनेक विवरण हैं किन्तु सभी ऐसे हैं कि जिनसे इतिहास का संकलन अभी तक कठिन ही रहा है।

पाण्ड्यराजवंश

प्रारम्भिक पाण्ड्य राजाओं का 'संगम साहित्य' में विवरण गल्पपूर्ण और भ्रामक है। प्रथम पाण्ड्य राजा नेडियोन् था, जिसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इसका राजनीतिक केन्द्र मदुरा में स्थित था तथा यह समुद्र-पूजा की प्रथा का प्रेरक था। इसके बाद का पाण्ड्य नृप पलशालै मुदुकुडमे था। इसने कई यज्ञ किये थे और परमेश्वर की उपाधि धारण की थी। तृतीय पाण्ड्य शासक नेडुञ्जेलियन् था जिसने किसी आर्य सेना पर विजय प्राप्त किया था। उपर्युक्त तीनों राजाओं की शासन-अवधि निर्धारित करनी कठिन है। किन्तु नेडुञ्जेलियन् नाम का ही एक अन्य राजा पाण्ड्य राज्य का स्वामी बना जो बड़ा प्रतापी था। उसका आरम्भिक वृत्तान्त बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था, क्योंकि वह राजत्व प्राप्त करते ही चेर और चोल तथा पांच अन्य शत्रु राजाओं से घिर गया। उस समय उसकी अवस्था छोटी थी जिसके कारण प्रतिद्वन्द्वी राजाओं ने अवसर का लाभ उठाने की योजना बना ली थी। शत्रुपक्ष ने पाण्ड्य जनपद को जीतकर मदुरा को घेर लिया। किन्तु नेडुञ्जेलियन् का पौरुष असाधारण निकला। उसने न केवल मदुरा से शत्रुओं को खदेड़ा अपितु उनको चोल सीमा के अन्दर ढकेल कर तंजोर के पास तलैयालनगानम् के युद्धस्थल में पूरी तरह परास्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया। चेर राजा शेर भी, जो कि चोलों का सहायक था, हार कर पकड़ा गया तथा नेडुञ्जेलियन् द्वारा बन्दी बना लिया गया। उसने मिलले और मुतुरू नामक सामन्त राजाओं को भी अधीन बनाया तथा अनेक राज्यों का अपहरण किया। इस प्रकार नेडुञ्जेलियन् कुछ ही समय में न केवल अपने पैतृक राज्य को सुरक्षित करने में सफल हुआ अपितु उसने अपने पौरुष और पराक्रम द्वारा पाण्ड्य राज्य सीमा में भी अभिवृद्धि की।

नेडुञ्जेलियन् विद्या और साहित्य का महान् संरक्षक था। तत्कालीन कवियों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसके शासन-काल में मदुरा समस्त दक्षिण भारत का व्यापारिक और सांस्कृतिक केन्द्र था, तथा उसकी समृद्धि तत्कालीन कवियों के गान का विषय थी।

संगमोत्तर संक्रान्ति–कलभ्रों का उदय

ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक 'संगमयुग' की परिसमाप्ति हो जाती है। इसके बाद के कई शताब्दियों के इतिहास के लिये कोई ज्ञात प्रमाण नहीं है। चौथी शती के मध्य में दक्षिणापथ के द्वादश राजाओं का उल्लेख समुद्रगुप्त की 'प्रयागप्रशस्ति' में है। इन द्वादश राजाओं में काञ्ची के विष्णुगोप का भी नाम है। 'प्रयागप्रशस्ति' का यह अंश इस संदर्भ में बड़ा विवादास्पद है कि समुद्रगुप्त ने वास्तविक दक्षिण भारत का कितना अंश अपने दिग्विजय द्वारा प्रभावित किया था। ड्युब्युरेल और भवराजू वेङ्कट कृष्णराव आदि की धारणा है कि काञ्ची का विष्णुगोप स्वयं दक्षिणापथ के राजाओं के सामरिक संगठन में शामिल था और 'प्रशस्ति' में वर्णित राजाओं से मिलकर दक्कन या दक्षिणापथ में ही समुद्रगुप्त के अभियान मार्ग को अवरुद्ध किया था। सम्प्रति समुद्रगुप्त-दिग्विजय के इस पहलू पर विवाद करना सम्भव नहीं है। अधिकांश विद्वानों की यही धारणा है कि समुद्रगुप्त दिग्विजय करता हुआ काञ्ची तक पहुँचा था। यदि किसी सामरिक संघ द्वारा उसका मार्ग अवरुद्ध हुआ होता तो 'प्रयागप्रशस्ति' में इसका कुछ न कुछ संकेत अवश्य ही होता। 'प्रयागप्रशस्ति' में आये जिन चार राजाओं और उनकी स्थिति की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है वे हैं—'कौरालकमण्टराज', 'कौट्टूरकस्वामिदत्त', 'अवमुक्तकनीलराज' और 'कुशस्थलपुरकधनञ्जय'। यह कहना कठिन है कि ये नृप ठेठ दक्षिण भारत अर्थात् 'तामिलहम' के थे अथवा आन्ध्र अथवा दक्षिणापथ के। 'संगमयुग' के प्रसिद्ध राजवंशों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में, यथा चेर, चोल और पाण्ड्य किसी का भी उल्लेख 'प्रयाग प्रशस्ति' में नहीं है। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि 'संगमयुग' के राजवंश चौथी शती से या तो लुप्त हो गये थे या इनका दक्षिण भारत के राजनीतिक जीवन में एकान्त स्थान था। वे अपने ही भौगोलिक और राजनीतिक सीमा में सीमित थे तथा उत्तरापथ की कौन कहे, दक्षिण भारत की भी राजनीतिक गतिविधि के प्रति उदासीन थे। पल्लवों का उल्लेख 'संगम साहित्य' में नहीं है। लेकिन समुद्रगुप्त के समय में दक्षिण भारत के राजाओं में विष्णुगोप का महत्त्व था। विष्णुगोप पल्लव वंश की मान्य वंश-परम्परा और तिथि-परम्परा के आधार पर चौथा राजा था और इसका शासनकाल चौथी शती के तृतीय चरण में निर्धारित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में भी यह भी कहा जा सकता है कि 'संगम साहित्य' के अनुश्रुति संग्रह के लिए पल्लव वंश चाहे कितना ही संदर्भहीन रहा हो, सम्भवतः काञ्ची के आसपास लगभग एक शती पूर्व ही पल्लव वंश की नींव पड़ चुकी थी। तमिल साहित्य में पल्लवों का संदर्भ न होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि आरम्भिक पल्लव प्राकृत और संस्कृत साहित्य के पोषक थे, तमिल के नहीं।

समुद्रगुप्त का अभियान एक आँधी थी जो आयी और चली गयी, किन्तु अपनी स्थायी छाप भी छोड़ गयी। युद्धोपरान्त दक्षिणापथ से राजाओं के प्रति समुद्रगुप्त ने 'ग्रहणमोक्षानुग्रह' की नीति अपनायी। किन्तु उसके प्रहार से दक्षिणापथ के राजाओं में जो निर्बलता आयी उसका प्रभाव उसकी स्थिरता और अस्तित्व पर पड़े बिना न रह सका। यदि हरिषेण का यह कहना सही है कि समुद्रगुप्त ने पराजित राजाओं को पुनः प्रतिष्ठित कर दिया तो भी तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि पराजित राज्यों को संभलने में देरी लगी। विष्णुगोप के बाद पल्लवों का राजवंश कई शाखाओं में विभक्त हो गया था। मुख्य पल्लवों के हाथ से सम्भवतः काञ्ची भी खिसक गया था और उसे प्राप्त करने के लिए कुमार विष्णु को संघर्ष करना पड़ता था। समुद्रगुप्त के अभियान के बाद भ्रष्ट राज्यों का पुनःसंस्थापन ही नहीं हुआ। आस-पास की परिस्थिति से लाभ उठा कर कई प्रबल सामन्तों ने कतिपय नये राज्य भी खड़े किये। मैसूर के आस-पास पश्चिमी गंगों का नया राजवंश उदित हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरी मैसूर के आस-पास के कुन्तल जनपद में कदम्बों का भी प्रादुर्भाव उसी परिस्थिति में हुआ।

इसी समय के आसपास ठेठ तमिल जनपद में भी अशान्ति का वातावरण व्याप्त हुआ। तिरुपति के आसपास एक कलवर[1] जाति बसती थी जो किन्हीं अज्ञात कारणों से अपने मूलस्थान से हट गयी या हटा दी गयी थी। यह जाति असंस्कृत और दस्यु प्रवृत्ति की थी। वेल्वीकुड़ी दानपत्र में इस जाति को, 'कलभ्र' अथवा 'कलभ्रन' कहा गया है। यह असभ्य जाति सहसा समस्त तामिल जनपद में फैल गयी और धीरे-धीरे चेर, चोल और पाण्डय 'जनपद की राजनीतिक शान्ति को राहुवत् ग्रसने में समर्थ हो गयी। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि कलभ्रों की ऐसी प्रबल स्थिति कब हुई। किन्तु वेल्वीकुड़ी दानपत्र के सम्यक् अध्ययन से इस प्रश्न का तनिक समाधान होता है। कलभ्रों के संदर्भ में वेल्वीकुड़ी दानपत्र से संकेत मिलता है कि कलभ्रों का दमन पाण्डय नृप कडुगोन् द्वारा हुआ। वेल्वीकुड़ी दानपत्र के सम्पादकों (इपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड ८ पृ० ३१७) के विचार में यह कडुगोन् उस कदुमकोन् नृप से तुलनीय है जिसके शासनकाल में तृतीय 'संगम' की परिसमाप्ति हुई थी। किन्तु एस० कृष्णस्वामी आयंगर ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध किया और कहा कि 'संगमयुग' की परिसमाप्ति के

---

१. कलभ्रों की पहचान करते समय कृष्णस्वामी ने इनको 'कलिकुल' राजवंशीय बनाया है, वेल्वीकुड़ी दानपत्र में 'कलभ्रन' (=कलभ्रों के राजा) को 'कलिराज' कहा गया है। किन्तु प्राप्त साक्ष्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि तमिल देश में कोई 'कलिकुल' नामक राजवंश था। वस्तुत: कलभ्र कोई अज्ञात प्रजाति ही थी। वेङ्कैया का यह कहना भी प्रामाणिक नहीं है कि कलभ्र 'पेरियपुराणम्' में वर्णित करण्ट थे जिन्होंने मदुरा पर अधिकार कर लिया था। चालुक्यों से कलभ्रों की शत्रुता थी। चालुक्य भी करण्ट के शासक थे। ऐसी स्थिति में कलभ्र को करण्ट नहीं कहा जा सकता। यह भी कहा जाता है कलभ्र कोडुम्बलूर के मुक्तरैयर द्वारा संस्थापित राजवंश (आठवीं शती) के अग्रज थे। महामहोपाध्याय पंडित राघव आयंगर ने कलभ्रों की पहचान वेल्लाल जाति के कलप्पलरों से की है। इनका उल्लेख कतिपय अभिलेखों और तमिल साहित्य में है। किन्तु बहुमान्य सिद्धान्त के अनुसार कलभ्र कलवर ही थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहुत दिनों बाद कलभ्रों का आतंक पाण्डय जनपद में फैला। वस्तुतः 'संगमयुग' के कदुमकोन् के कई पीढ़ियों बाद कलभ्र संक्रान्ति फैली। कृष्णस्वामी के मत से वेल्वीकुड़ी दानपत्र ७६९–७० ई० का है। इसके ६ पीढ़ी पहले कडुगोन् (५९०-६२० ई०) हुआ, जिसने कलभ्रों का दमन किया। कलभ्रों का आतंक भी कृष्णस्वामी के अनुसार दीर्घकालीन रहा। कुडुगोन् और मुटुकुडुमी (जिसके काल में वेल्वीकुड़ी ग्राम का दान केल्वी ब्राह्मणों को पहले पहल किया गया था। यह दान कलभ्र संक्रान्ति के कई पीढ़ी पूर्व किया गया था) के बीच वास्तव में कितना समय बीता, बताना कठिन है। कृष्णस्वामी का अनुमान है कि कुडुगोन और 'संगमयुग' की परिसमाप्ति की अवधि में भी ६ पीढ़ी का अन्तर था। इस आधार पर कलभ्रों के उदय का समय चौथी शती का अन्त अथवा पाँचवीं शती ईसवी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

इस अवधि में कलभ्रों ने पूर्व प्रचलित राजनीतिक परिस्थिति को परिवर्तित कर दिया। वेल्वीकुड़ी के वर्णन में उन्हें 'कलिअरसन' कहा गया है। वे अधार्मिक शासक थे और उनके द्वारा अनेक 'अधिराज' अपने राजत्व से वञ्चित किये गये थे। वे 'ब्रह्मदेय' का भी आदर नहीं करते थे और इसी कारण वेल्वीकुड़ी ग्राम का पूर्व दान कलभ्रों द्वारा अमान्य कर दिया गया था। सम्भवतः वे बौद्ध थे[1] और वैदिक कर्म के विरोधी थे। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य बुद्धदत्त ने, जो कावेरीपट्टनम् का निवासी था, अपने समकालीन राजा को कलभ्रवंशीय 'अच्युत विकन्त' (= अच्युतविक्रान्त) बताया[2] है। ब्रह्मदत्त का इस राजा से अच्छा सम्बन्ध था और इसे इसका संरक्षण प्राप्त था। इस आधार पर कलभ्रों को बौद्ध कहा जा सकता है। नीलकंठ शास्त्री का विचार है कि कलभ्रों की राजनीतिक गतिविधि के मूल में बौद्धधर्म का वैदिकधर्म या ब्राह्मणधर्म के प्रति भावात्मक विद्वेष भी था।

पाँचवीं शती में कलभ्र संक्रान्ति की तीव्र अनुभूति तमिल जनपद को करनी पड़ी और इस समय इनका प्रभाव चरम उत्कर्ष पर था। एक तमिल अनुश्रुति

---

१. वेङ्कैया ने कलभ्रों को जैनधर्मी इस आधार पर कहा है कि (उनके मत से) कलभ्र जैन धर्मावलम्बी 'करण्टों' से तुलनीय थे।

२. कुछ इतिहासकारों ने अच्युत विक्रान्त को कदम्बवंशीय सिद्ध करने की निराधार चेष्टा की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अनुसार कलिराज कलभ्रन द्वारा चेर, चोल और पाण्ड्य नृप बन्दी बना लिए गये थे। चोलों का तो उसने समूल विनाश किया। चोलों की एक शाखा तञ्जोर से उच्छिन्न होकर आन्ध्रपथ में चली आयी और एक नये राजवंश (तेलुगु चोल) के नाम से सातवीं शती तक शासन करती रही। चोलों के जनपद में प्रविष्ट होने के बाद इनके द्वारा पाण्ड्य जनपद और फिर क्रमशः पल्लवों का प्रदेश भी (काञ्ची अच्युत विक्रान्त के शासनकाल में कलभ्रों का केन्द्र था) कलभ्रों के अधीन हो गया। ६ठी शती के आरम्भ तक इनकी स्थिति और प्रसार से दक्षिणापथ के चालुक्यों को भी खतरा महसूस होने लगा। इस स्थिति के प्रति चालुक्य, पल्लव और पाण्ड्य सभी सतर्क थे और अवसर की ताक में थे। ऐसा कहना कठिन है कि इन तीनों राजाओं ने कोई समवेत प्रयत्न किया अथवा यथा–परिस्थिति तीनों ही राजवंशों ने पृथक्-पृथक् अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र से कलभ्रों को खदेड़ना प्रारम्भ किया। तीनों ही राजवंशों के अभिलेखों में पृथक्-पृथक् रूप से कलभ्रों के पराजय की चर्चा की गयी है और उनके पतन का श्रेय अभिलेखकारों ने अपने ही आश्रयदाता वंश या नृप को दिया है।

विनयादित्य (चालुक्य) के वक्कलेरी और नेरूर दानपत्रों से ऐसा संकेत मिलता है कि विनयादित्य ने अपने पिता विक्रमादित्य द्वितीय की ओर से संग्राम करते हुए पल्लव, चोल और पाण्ड्य नृपों के अतिरिक्त, कलभ्रों को भी पराजित किया। इसी तरह पल्लव नरेश सिंहविष्णु और उसके उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मन् प्रथम द्वारा भी कलभ्र प्रताड़ित हुये। कशाकुडी दानपत्र के अनुसार सिंहविष्णु ने पल्लव जनपद की दक्षिणी सीमा कावेरी तक फैला ली थी। इसी प्रसंग में सम्भवतः उन्हें काञ्ची के कलभ्रों के उन्मूलन का अवसर मिला। इस प्रयत्न में उसका उत्तराधिकारी भी लगा रहा और सातवीं और आठवीं शती के बीच में पल्लव जनपद कलभ्रों से सर्वदा निरापद हो गया। किन्तु पाण्ड्य जनपद इसके पूर्व ही अर्थात् छठी शती में ही कलभ्रों की यातना से मुक्त था। वेल्वीकुड़ी दानपत्र में बड़े मुखर शब्दों में इस तथ्य का उल्लेख है कि पाण्ड्याधिराज कुडुगोन् ने कलभ्रों का विनाश किया।

पाण्ड्य और पल्लवों के उदय से कलभ्रों का सूर्य अस्त हो गया। ऐसा अनुमान करने का प्रामाणिक आधार यह है कि इसके बाद कलभ्र कभी पल्लवों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के और कभी पाण्ड्यों के अधीन होते रहे। काञ्ची से उखड़कर इनका केन्द्र तञ्जोर में कुछ काल के लिए सामन्त शासक के रूप में स्थिर रहा। आठवीं से ग्यारहवीं शती के बीच तञ्जोर का शासन मुत्तरैयर के वंशधर करते रहे। विद्वानों ने मुत्तरैयर का सम्बन्ध कलभ्र वंश से जोड़ा है। विजयालय चोल ने कलभ्रों की शेष सत्ता का भी संहार किया और उन्हें परास्त कर तञ्जोर को चोल-समृद्धि का केन्द्र बनाया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ४

पल्लवों का उद्भव और आरम्भिक विकास

दक्षिणभारत के इतिहास में तीसरी शती ई० के मध्य से नवीं शती ईसवी तक पल्लवों का विशिष्ट महत्त्व रहा है। आन्ध्रभृत्यों और ऐक्ष्वाकुओं के राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप में पल्लवों ने आन्ध्र जनपद के दक्षिण तथा दक्षिण पश्चिमी भाग प्राप्त किये थे। यहीं से शीघ्र ही इन्होंने काञ्ची की ओर अपना प्रसार किया। इसी काञ्ची केन्द्र से इसका जो अभ्युदय और उत्कर्ष हुआ उसका विवरण भारतीय इतिहास का एक गरिमामंडित अध्याय है। उत्तरापथ में गुप्तों का और दक्षिणापथ में वाकटकों का जो महत्त्व था वही महत्त्व दक्षिण के इतिहास और संस्कृति में पल्लवों का है। इन्हीं के शासनकाल में दक्षिण में संस्कृत भाषा और आर्य संस्कृति का प्रसार हुआ और ब्राह्मणधर्म को प्रश्रय प्राप्त हुआ। पल्लव नृप स्वयं 'परमभागवत' थे किन्तु शैवधर्म के प्रति भी इनका आदर भाव था। काञ्ची को इनके राज्याश्रय में जो महत्त्व मिला, वस्तुतः उसी का परिणाम था कि काञ्ची भारत की 'सप्तमोक्षदायिनी' पुरियों की सूची में गिनी जाने लगी। कला और वास्तु के क्षेत्र में इनके योगदान से असाधारण अभिवृद्धि हुई।

इनके इतिहास के लिए जो सामग्री उपलब्ध है उसके तीन वर्ग किये जा सकते हैं। प्रथम वर्ग में ऐसे ताम्रपत्र लेख हैं जो प्राकृत भाषा में हैं और जिनकी लिपि नासिक गुहालेख लिपि से मिलती-जुलती है। इस वर्ग के प्रमुख अभिलेखों में युवमहाराज शिवस्कन्दवर्मन का मैइडावोलु का ताम्रपत्र, शिवस्कन्दवर्मन् का हीरहडगल्ली का ताम्रपत्र और ब्रिटिश म्यूजियम का चारुदेवी का ताम्रपत्र उल्लेखनीय हैं। इनका समय तृतीय शती ईसवी के आस-पास का निर्धारित किया जा सकता है। दूसरे वर्ग के अभिलेखों में संस्कृत अभिलेखों की गणना की जा सकती है। ये प्राकृत अभिलेखों के बाद के हैं। विजयस्कन्दवर्मन्, युवमहाराज विष्णुगोपवर्मन्, सिंहवर्मन् द्वितीय के अभिलेख इस वर्ग में मुख्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप से आते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ खण्डित लेख यथा चूरा ताम्रपत्र, और केन्दालूरु के लेख भी इसी वर्ग के हैं।

सातवीं शती से नवीं शती के बीच पल्लव अभिलेख जिनमें संस्कृत के साथ-साथ तमिल का भी प्रयोग है, तीसरे वर्ग के अभिलेख हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण नरसिंहवर्मन् द्वितीय का वायलूर स्तम्भलेख, विजय-नन्दिवर्मन के कशकुडि और वेलूर पालयम के अभिलेख हैं।

पल्लव कौन थे ?

इन अभिलेखों में कई बार पल्लवों को भारद्वाजगोत्रीय और अश्वत्थामा का वंशज कहा गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त इन अभिलेखों में प्रत्यक्ष रूप से इसका उल्लेख नहीं है कि पल्लव कौन थे और कहाँ के मूलनिवासी थे। अतएव इन दो प्रश्नों को लेकर आधुनिक विद्वानों में बड़ा विवाद है और आज तक एक मत स्थिर नहीं हो सका है।

पहले हम उन मतों का विवेचन करेंगे जिनके आधार पर पल्लव पह्लव अथवा पार्थियन जाति से उद्भूत माने जाते हैं। ब्युसि राइस ने ही इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम (१८७९ ई० में) प्रतिपादित किया और कहा पल्लवों का उल्लेख पुराणों में शक, यवन, हैहय, पल्लव आदि के साथ किया गया है जिनका मूल पारसीक देश में है। वी० वेङ्कैया महोदय ने इस सिद्धान्त को विशेष पल्लवित किया। उनका कहना है कि पल्लव पह्लव अथवा पल्हव जातिसूचक शब्दों का संस्कृत रूप है। पुराणों के अनुसार ये पह्लव (= पल्लव) पतितक्षत्रिय थे, जो फारस और सिन्धु जनपद के बीच बसते थे। सगर ने इन्हें पराजित किया था, किन्तु विश्वामित्र की मध्यस्थता के कारण सगर के द्वारा इनका समूल नाश न किया जा सका था। इनमें वैदिक धर्म के प्रति आस्था न थी। पहली शती ईसवी के आसपास ये भारतीय सीमा में घुस आये थे और पुनः भारतीय संस्कृति में दीक्षित हो गये थे। रुद्रदामन और वासिष्ठिपुत्र श्री पुलमावि द्वितीय के समय में ये पह्लव नाम से जाने जाते थे जो पार्थव अथवा पार्थिय (= पार्थिया) शब्द का अपभ्रंश था। भौगोलिक दृष्टि से पह्लवों के प्रसार और विस्तार की रूपरेखा इस प्रकार है :—

इन्डोपार्थियन (पह्लव = पल्लव) कन्धार और सीस्तान के मूल निवासी थे जो प्रथम शती ईसवी के मध्य में पश्चिमी पंजाब, निचला सिन्ध होते हुए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहन युग में कृष्णा और गोदावरी के काँठे के आन्ध्र जनपद में बस गये। कालान्तर में (तीसरी शती ईसवी) काञ्ची इनके आधीन हुआ।

उपर्युक्त मत की अनुपयुक्तता निम्न तर्कों से सिद्ध होती है। एक तो पल्लवों के अभिलेखों में इसकी कोई ध्वनि नहीं है कि पल्लव जाति कहीं से संचरण करती हुई काञ्ची या उसके आसपास बसी थी। कैसे पल्लव जाति पश्चिमी भारत, काठियावाड़ और गुजरात से गोदावरी के कांठे के पूर्वी छोर पर सहसा 'पल्लव' नाम से प्रकट हुई—इसका इतिहास इस सिद्धान्त को मान्यता देने वाले नहीं बता पाते। दूसरे तीसरी-चौथी शती के पल्लवों को केवल अनुमान के आधार पर शताब्दियों पूर्व की पार्थियन जाति से तुलनीय सिद्ध करना भी उचित नहीं है। 'पह्लव' और 'पल्लव' शब्द में व्युत्पत्तिक सम्बन्ध की स्थापना भी मान्य व्याकरण के सिद्धान्त के विरुद्ध है। 'पह्लव' का 'ह्' 'पल्लव' के 'ल्' में परिवर्तित नहीं हो सकता। रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में आये सुविशाख पह्लव, को पल्लवों का अग्रज मानना भी ठीक नहीं। न तो सुविशाख स्वतंत्र रूप में राजा था, (यह रुद्रदामन का मंत्री था) और न इसका नाम ही पल्लवों की अभिलिखित वंशावली में आता है।

स्मिथ महोदय की धारणा पह्लव और पल्लव में साम्य स्थापित करने की नहीं थी। उनका अनुमान था कि पल्लवों की एक प्रजाति जो मद्रास के उत्तर में सम्भवतः वेंगी जनपद (कृष्णा और गोदावरी के निचले कांठे) में मूलतः बसी हुई थी। आन्ध्रों के प्रभुत्वकाल में भी यह प्रजाति राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो चुकी थी। उनका कहना है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि के समय में जैसे पश्चिमी भारत में पह्लव जाति थी, जो उससे शक यवन आदि के साथ पराजित हो चुके थे, उसी प्रकार पल्लव (जिनकी राजनीतिक और आनुवंशिक स्थिति पह्लवों से सर्वथा भिन्न थी) गोदावरी और कृष्णा के निचले कांठे में बसी हुई थी, किन्तु उनका उस समय का इतिहास सम्प्रति ज्ञात नहीं है। उनकी मान्यता थी कि पल्लव तमिल जनपद के उत्तर के मूल निवासी थे और रक्त-सम्बन्ध की दृष्टि से नागवंश के निकट थे। श्रीनिवास आयंगर भी इसी मान्यता में विश्वास करते थे। कालान्तर में स्मिथ महोदय के विचारों में परिवर्तन हुआ और वे इस धारणा पर पहुँचे कि पल्लव मूलतः लंका के निवासी थे। वे तमिल नहीं थे तथा इन्होंने काञ्ची

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में अपने शासन और साम्राज्य की स्थापना प्राचीन चोल और चेर जातियों को पराभूत कर के की थी। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पल्लव जाति अनेक जातियों की एक संमिश्रण थी जिसमें कुछ दक्षिण भारतीय और कुछ अभारतीय जनतत्त्व थे।

इस धारणा के विपरीत कई मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि पल्लव कोई एक प्रजाति थी अथवा एक मिश्रित जाति थी। पल्लवों का आदि देश कृष्णा-गोदावरी का निचला काँठा बताना अथवा उनका मूलस्थान लंका में खोजना भी स्मिथ महोदय की कल्पना पर आधारित है। वस्तुतः वेंकैया और राइस द्वारा पल्लवों के विदेशी मूल सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध स्मिथ महोदय कोई ठोस तर्क प्रस्तुत न कर सके। किन्तु उनकी इस स्थापना से कि पल्लवों का मूल भारतीय है, कतिपय अन्य विद्वानों को विचार के लिए एक नयी दिशा मिली। एस० कृष्णास्वामी आयंगर ने स्मिथ की मूलभावना को स्वीकार किया और तमिल साहित्य का गहन अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि पल्लवों का मूलस्थान 'तोण्डमण्डलम्' ही था। पल्लव एक राजवंश था जिनका सातवाहनों से भी आनुवंशिक सम्बन्ध था। दशवीं शती के राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के 'भुवनकोश' में 'पल्लव' और 'पह्लव' का दो भिन्न प्रजातियों के रूप में उल्लेख किया है। राजशेखर के अनुसार पल्लव माहिष्मती के दक्षिण में और पह्लव सिन्धु के पश्चिमोत्तर में बसने वाली जातियाँ थीं। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'पल्लव' और 'पह्लव' का यह अन्तर किसी समकालीन प्रमाण से स्पष्ट नहीं है। परवर्ती युग में, जब कि पल्लवों का इतिहास और स्वरूप काफी स्पष्ट हो चुका था, राजशेखर का पह्लव और पल्लव का अन्तर जानना सरल था। राजशेखर का प्रमाण इस कारण प्रस्तुत संदर्भ में विशेष अर्थ नहीं रखता। तमिल अनुश्रुतियों पर भी, जिनके आधार पर आयंगर महोदय का यह सिद्धान्त है कि पल्लवों की आदि भूमि 'तोण्डमण्डलम्' है, अधिक भरोसा नहीं रखा जा सकता क्योंकि उनमें ऐतिहासिक तथ्य का अभाव स्पष्ट है। सी० रसनयगम् मुदालियर की भी स्थापना इसी प्रकार की है। उनके मत से पल्लव मूल रूप से दक्षिणी लंका के तमिल थे जिनका सम्बन्ध आरम्भिक चोलों से अथवा चोल नागवंश से था। इनका कहना है कि किल्ली वलवन् अथवा नेडुमुडी किल्ली, जो चोल वंश के थे, नाग वंशीय लंका के मणि पल्लवम् नामक जनपद की कन्या से विवाहित हुये थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनसे तैण्डैमान् इलन्तिरैयान् नामक पुत्र हुआ तथा यही पुत्र दूसरी शती ईसवी के उत्तरार्द्ध में अपने पिता किल्ली वलवन् का, जो तोण्डमण्डलम् का अधिपति था, उत्तराधिकारी निर्धारित हुआ। काञ्ची इसकी राजधानी थी तथा इसका चोलमण्डलम् से कोई सम्बन्ध नहीं था। इलन्तिरैयान से जिस वंशपरम्परा का समारम्भ हुआ वह उसकी माता के जन्मस्थान 'मणिपल्लवम्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद को यही राजवंश केवल 'पल्लवम्' नाम से जाना जाने लगा, जिसका न तो पश्चिमी भारत के पह्लवों से कोई सम्बन्ध था और न सातवाहनों से ही। अपितु पितृपक्ष से इनमें उरैयूर के चोलवंश का और मातृपक्ष से मणिपल्लवम् जनपद (लंका) के नागवंश का रक्त संमिश्रित था। यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि स्मिथ की यह धारणा कि पल्लव लंका के नागवंशीय थे, रसनयगम् के ही अनुमान पर स्थिर था।

पल्लवों के मूल की खोज में लंका की तलाश करना उतना ही भ्रामक है जितना कि पर्शिया या पारसीक की खाक छानना। पल्लवों की अभिलिखित वंश-परम्परा में वंशसंस्थापक के रूप में न तोण्डिमान् इलाम तिरैयन् का नाम आता न किसी चोलनागवंशीय अन्य राजा का ही नाम आता है। 'मणिमेखलै' में, जिसके आधार पर रसनयगम् ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, तोण्डमान् इलामतिरैयान् तमिल संस्कृति और साहित्य का पोषक माना गया है। वह स्वयं भी तमिल कवि था। किन्तु इसके विपरीत पल्लवों के अभिलेखीय वृत्तान्त से आरम्भिक पल्लवों का तमिल साहित्य और संस्कृति से सम्बन्ध नहीं प्रमाणित होता। इन अभिलेखों में पल्लवों के अग्रज को भारद्वाज गोत्रीय और अश्वमेध, वाजपेय आदि का कर्ता बता कर उन्हें वैदिक संस्कृति का पोषक सिद्ध किया गया है। इनके अभिलेखों की भाषा प्राकृत और संस्कृत है। संस्कृत के साथ तमिल का व्यवहार केवल परवर्ती पल्लवों ने ही किया। आरम्भिक पल्लव राजाओं का 'तोण्ड-मण्डलम्' अथवा लंका के 'मणिपल्लवम्' जनपद से कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना अनुमान और अनुश्रुति के आधार पर ही है। इसके विपरीत ज्ञात अभिलेखीय तथा अन्य प्रामाणिक स्रोतों से यह तथ्य अधिक प्रकट होता है कि 'तोण्डमण्डलम्' और 'चोड-मण्डलम्' के आरम्भिक शासकों में वैरभाव था। 'पल्लव' किसी वंश का नाम होना इस कारण भी उचित नहीं है कि यह इस वंश के प्रथम नरेश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तोण्डमान् इलाम तिरैयान् की माता के जन्मस्थान का नामान्तर था। इतिहास अथवा परम्परा में ऐसा दूसरा उदाहरण दुर्लभ है।

रसनयगम् के सिद्धान्त का सहारा लेकर एम० एस० रामस्वामी आयंगर ने भी पल्लवों का सम्बन्ध तमिल अथवा लंका से जोड़ने की चेष्टा की है। रामस्वामी ने कहा कि 'पल्लव' वंश नाम बाद को प्रचलित हुआ, आरम्भ में यह वंश 'तिरैयर' के नाम से जाना जाता था। उनका कहना है कि यही कारण है कि 'प्रयाग प्रशस्ति' में हरिषेण ने 'काञ्चेयक विष्णुगोप' लिखा है, 'विष्णुगोप पल्लव' जैसी उक्ति नहीं है। संदिग्ध शब्दसाम्य के आधार पर स्वामीनाथ अय्यर ने 'तिरैयर' का सम्बन्ध फारसी भाषा के 'द्रय' 'दरय' अथवा 'दरिया' से जोड़ा और कहा कि 'तिरैयर' का अर्थ नाविक है। इस आधार पर इन्होंने कल्पना की कि 'तिरैयर' फारसी मूल पर आधारित हैं अतएव 'पल्लव' को फारसी मूल का पह्लव ही मानना उचित है। एलेक्जेन्डर री 'पल्लव' शब्द शुद्ध नहीं मानते। उनका कहना है कि इस वंश का नाम संस्कृतज्ञ पंडितों ने तमिल शब्द 'पाल अविल' से बिगाड़ कर 'पल्लव' कर दिया। तमिल शब्द 'पाल' का अर्थ 'दुग्ध' और 'अविल' का 'दोहन' है अर्थात् 'पालअविल' नामान्तरजाति या वंश आरम्भ में 'गोपालक' थी। इसी आधार पर राजत्व प्राप्त करने के बाद गोपालक राजाओं ने अपनी पूर्व परिस्थिति की स्मृति में अपने वंश का नाम 'पालवन्' रख लिया।

उपर्युक्त तीनों ही मत भ्रान्त कल्पना और अपुष्ट साक्ष्य के प्रति दुराग्रह के परिणाम हैं। इसी प्रकार पल्लवों को 'तोण्डमण्डलम्' जनपद के आदि निवासी कुरुम्बों से भी तुलनीय मानने का कोई आधार नहीं है। काशी-प्रसाद जायसवाल द्वारा 'पल्लवों' को 'भारशिव नागों' से सम्बद्ध किये जाने का भी केवल 'गोत्रसाम्य' होने के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। जायसवाल महोदय का कथन है कि कुषाणों का उन्मूलन करने के बाद भारशिव नाग सम्पूर्ण देश में छा गये और उनका आधिपत्य आन्ध्र जनपद में भी स्थापित हो गया। उनके बाद वाकाटकों ने उनका राज्य प्राप्त किया और दक्षिणापथ में वे 'विन्ध्यक' नाम से प्रसिद्ध हुये। उनके अनेक शाखा-वंश थे, जिनमें 'पल्लव' एक थे। शाखा होने के कारण ही इस नये वंश का नाम 'पल्लव' पड़ा और इस वंश के प्रथम राजा का नाम अथवा उपाधि 'कूर्च' या 'वीर कूर्च' प्रसिद्ध हुई। वीर कूर्च ने नागकन्यों से विवाह करके आन्ध्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनपद पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और नागों का सहायक था। 'वेलूरपाल्यम्' ताम्रपत्र में उल्लेख है कि वीर कूर्च के पूर्वज नागों के सहायक और उनके प्रशासन के सहयोगी थे। इससे लगता है कि वीर कूर्च के पूर्वज वाकाटक नरेशों के 'सामन्त' अथवा 'भृत्त' थे।

जायसवाल की मान्यता का सबसे बड़ा दोष यह भी है कि उन्होंने 'पल्लवों' के इतिहास से सम्बन्धित अन्य प्रमाणों की उपेक्षा की और 'भारशिवों' का इतिहास प्रस्तुत करते समय कल्पना और अनुमान का अधिक सहारा लिया। वे भारशिवों के गौरव गान में इतने मुक्तकंठ थे कि तत्कालीन अन्य राजवंशों के अस्तित्व का कोई ध्यान ही नहीं रखा। अभिलेखों के आधार पर यह कहना सरल है कि दक्षिण के पल्लव उत्तर के वाकाटकों की तुलना में समानान्तर शक्ति के रूप में उदीयमान हो रहे थे। पल्लवों का राजनीतिक उद्भव वाकाटकों का परवर्त्ती नहीं सिद्ध होता। 'भारशिवों' और वाकाटकों का आन्ध्र में आधिपत्य भी प्रमाणित नहीं है। एतदर्थ वाकाटकों से पल्लवों का आन्ध्र में राजत्व प्राप्त करना भी निराधार है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वीर कूर्च को पल्लवों का प्रथम राजा मानने का कोई पुष्ट आधार नहीं है।

जून्यू ड्युब्युरेल की मान्यता भी विचारणीय है। वे मानते थे कि 'पल्लव' कोई प्रजाति न थी अतएव उसके संचरण का इतिहास खोजना भी व्यर्थ है। यह एक राजवंश का नाम था जो नागवंश से सम्बन्धित था। सातवाहनों के साम्राज्य का प्रशासन कई सामन्तों द्वारा संचालित होता था। वासिष्ठिपुत्र श्री पुलमावि द्वितीय का साम्राज्य दक्षिण में पन्नार नदी तक फैला हुआ था और इस 'सातवाहनिहार' का सामन्त प्रशासक महासेनापति स्कन्दनाग था। यह शिवस्कन्द नाग चुटुकुल का अन्तिम राजा था तथा आरम्भिक पल्लव नृप भी इसी चुटुकुल के, जिनके अधीन वनवास जनपद था, समकालीन थे। वेलूरपाल्यम् अभिलेख में यह उल्लेख है कि प्रथम पल्लव राजा ने राजत्व नागराज की कन्या से विवाह करके प्राप्त किया था। उससे पता चलता है पल्लव आरम्भ में राजा न थे और इस रूप में न तो ये दक्षिण भारत के लिए प्रवासी थे न 'तोण्डमण्डलम्' के लिये ही। इस प्रकार यह मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है कि काञ्ची के आस-पास के किसी पल्लव ने चुटु नागवंशीय कन्या से विवाह करके काञ्ची के जनपद का आधिपत्य प्राप्त किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐसा समझने का काफी आधार है कि पल्लवों का मूलस्थान 'तोण्डमण्डलम्' ही रहा हो। पल्लवों का उद्भव मौर्यकाल में हो चुका था किन्तु इनकी स्थिति सामन्त शासक के रूप में थी। 'तोण्डमण्डलम्', जिसका केन्द्र काञ्ची था, मौर्यों के आधीन था। पल्लवों का उल्लेख 'पलद' या पुलिन्द के रूप में अशोक के अभिलेखों में हुआ—ऐसी आर० साथिनथैयर महोदय की धारणा है। इनकी यह भी धारणा है कि 'तोण्डैयर' और 'पल्लव' समानार्थी हैं। आरम्भिक पल्लवों का सातवाहनों से घना सम्बन्ध था, तथा इसका शासन प्रबन्ध सातवाहन शासन पद्धति से प्रभावित था। सम्भवतः सातवाहनों के युग में भी तोण्ड-मण्डलम् उनका एक 'आहार' था। सातवाहनों के बाद नागों का भी प्रभुत्व इस क्षेत्र में स्थापित हुआ, जिनका उन्मूलन करके पल्लवों ने काञ्ची पर प्रभुसत्ता, सम्पन्न राज्य की स्थापना की। दिनेशचन्द्र सरकार का अनुमान है कि पल्लवों का इस प्रकार से राजनीतिक उदय द्वितीय शती ईसवी के द्वितीय चरण में हुआ होगा। टालमी के साक्ष्य से ऐसा पता चलता है कि इस समय के लगभग नागों का शासन और प्रभाव काञ्ची के आसपास था।

पल्लवों को पांचवीं शती के तालगुण्ड अभिलेख में क्षत्रिय कहा गया है। किन्तु ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पल्लव वंश का उद्भव उत्तर के भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण और काञ्ची के आसपास के राज्यों के संमिश्रित रक्त से हुआ।

आरम्भिक पल्लव

पल्लवों की आरम्भिक वंशावली प्राकृत और संस्कृत ताम्रपत्रों से स्पष्ट होती है। भाषा और लिपि के आधार पर प्राकृत-लेख पहले के हैं और इनका समय सामान्यतया २५० ई० से ३५० ई० के बीच का निर्धारित किया जाता है। संस्कृत अभिलेख ३५० ई० और ६०० ई० के बीच लिखे गये। इन्हीं दो स्रोतों के आधार पर विद्वानों ने आरम्भिक पल्लवों की आनुवंशिक रूपरेखा प्रस्तुत की है। किन्तु इस रूपरेखा में एकरूपता नहीं है तथा विद्वानों में मतभेद के कारण से राजाओं और उनके कालक्रम का निर्धारण कई तरह से किया गया है। इस विषय पर दिनेशचन्द्र सरकार का मत अत्यन्त नूतन और प्रामाणिक है। प्राकृत और संस्कृत अभिलेखों में आये आरम्भिक पल्लव राजाओं का जो वंशक्रम उन्होंने निर्धारित किया है, उसी का साभार उल्लेख यहाँ किया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(क) प्राकृत अभिलेखों के आधार पर प्रस्तुत पल्लवों का सम्भावित वंश-क्रम :—

१. सिंहवर्मन् (तृतीय शती का अन्त)
२. शिवस्कन्दवर्मन् (चतुर्थ शती का आरम्भ)
३. स्कन्दवर्मन् (चतुर्थ शती का द्वितीय चरण)

- बुद्धवर्मन्
  - बुद्धयाङ्कुर
- ४. विष्णुगोप (चतुर्थ शती का तृतीय चरण)

(ख) संस्कृत अभिलेखों में आये काञ्ची के पल्लवों का सम्भावित वंश-क्रम :—

स्कन्दवर्मन् प्रथम

- बुद्धवर्मन्
  - (बुद्धयाङ्कुर)
- ४. विष्णुगोप (चतुर्थ शती का तृतीय चरण)
- ५. कुमार विष्णु प्रथम
  - ६. बुद्धवर्मन्
  - ७. कुमार विष्णु द्वितीय (पाँचवीं शती का आरम्भ)
  - ८. स्कन्दवर्मन् द्वितीय
  - ९. सिंहवर्मन् (ल० ४३६–४५८ ई०)
  - १०. स्कन्दवर्मन् तृतीय
  - ११. नन्दिवर्मन् प्रथम
  - १२. शांतिवर्मन् चण्डदण्ड (छठी शती का आरम्भ)
  - १३. सिंहवर्मन् (ल० ५५०–५७५ ई०)
  - १४. सिंहविष्णु (ल० ५७५–६०० ई०)
  - १५. महेन्द्रवर्मन् प्रथम (ल० ६००–६३० ई०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राकृत अभिलेखों पर कोई ज्ञात तिथि अंकित नहीं है। अतएव लिपिशास्त्र के आधार पर ही इन अभिलेखों में आये नामों का काल निर्णय करना पड़ा है। 'प्रयाग प्रशस्ति' (चौथी शती का मध्य) में काञ्ची के विष्णुगोप का उल्लेख है। इस आधार पर विष्णुगोप का समय ल० ३४० ई० से ३५० ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है। विष्णुगोप के पूर्ववर्ती राजाओं का नाम और परस्पर सम्बन्ध प्राकृत अभिलेखों यथा मैयडावोलू, हीरहडगल्ली और बृटिश म्यूजियम अभिलेखों द्वारा स्पष्ट नहीं है। सबसे प्राचीन प्राकृत अभिलेख (मैयडावोलू) शिवस्कन्दवर्मन् का है। यह लेख काञ्ची से प्रसारित किया गया था। उस समय वह युवमहाराज था तथा उसके पिता के शासन का दसवां वर्ष चल रहा था। इसी अभिलेख से यह भी सूचना मिलती है कि शिवस्कन्द का गोत्र भारद्वाज था तथा इस समय उसके पिता के अधिकार में तोण्डमण्डलम् के अतिरिक्त आन्ध्रपथ भी था। इस अभिलेख में शिवस्कन्द-वर्मन् के पिता वप्पदेव का भी नाम है। किन्तु दिनेशचन्द्र सरकार की दृष्टि में 'वप्प' शब्द केवल पिता का द्योतक है, शिवस्कन्दवर्मन् के पिता के नाम का नहीं।

हीरहडगल्ली अभिलेख, जो शिवस्कन्दवर्मन् के आठवें राजत्व काल में प्रसारित किया गया था, यह सूचित करता है कि शिवस्कन्दवर्मन् की उपाधि 'धर्ममहाराज' थी और उसने दूर-दूर तक के प्रदेश जीते थे। उस उपलक्ष में उसने अश्वमेध, वाजपेय और अग्निस्तोमयज्ञ किये थे। उसके समय में पल्लवों की राज्यसीमा में कृष्णा और तुंगभद्रा की घाटी और कुन्तल भी शामिल था। सम्भवतः मैसूर का दक्षिण भाग भी शिवस्कन्द ने गंगवंश के राजाओं से छीन लिया था और कृष्णा-गण्टूर का इलाका भी इक्ष्वाकुओं से अपहृत होकर पल्लवराज्य का अंग बन चुका था। दक्षिण में दक्षिणी पेन्नार नदी तक पल्लवों की सीमा प्रसृत थी। काञ्ची मुख्य राजनीतिक केन्द्र था किन्तु उत्तर में अमरावती का भी महत्त्व पल्लवों के आधिपत्य में दिनानुदिन बढ़ता ही जा रहा था।

शिवस्कन्दवर्मन् का उत्तराधिकारी स्कन्दवर्मन् प्रतीत होता है। कुछ इतिहासकार शिवस्कन्दवर्मन् और स्कन्दवर्मन् का अन्तर नहीं स्पष्ट करते। किन्तु दिनेशचन्द्र सरकार की दृष्टि में दोनों निश्चित ही दो व्यक्ति थे। स्कन्दवर्मन् का अभिलेख (बृटिश म्यूजियम ताम्रपत्र) की भाषा संस्कृत बहुल है अतएव यह शिवस्कन्दवर्मन् के प्राकृत लेख का परवर्ती लेख माना जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है। ऐसी स्थिति में स्कन्दवर्मन् का शिवस्कन्दवर्मन् का उत्तराधिकारी होना स्वयं सिद्ध है। इस अभिलेख में आये बुद्धवर्मन् और बुद्धयाङ्कुर की आनुवंशिक स्थिति ठीक-ठीक निश्चित नहीं की जा सकती। यह भी कहना कठिन है कि इन व्यक्तियों ने पल्लव साम्राज्य के अधिपतित्व का उपभोग किया अथवा नहीं। किन्तु स्कन्दवर्मन् के बाद विष्णुगोप का राजत्व प्रमाणित है।

संस्कृत अभिलेखों में तामराय, पलक्कद, मेनमातूर, दशनपुर, पिथीर, ओन्गूडु, दर्शी, रायकोट, केन्दलूर, उदयेन्दिरम्, उरुवपल्ली, वैयालूर और अमरावती के अभिलेख उल्लेखनीय हैं, जिनसे पल्लवों के इतिहास की जानकारी होती है। जैन कृति 'लोकविभाग' और 'अवन्तिसुन्दरी कथासार' का भी पल्लवों की तिथि और राजत्व की जानकारी के लिये महत्व है। इन अभिलेखों के आधार पर, मुख्यतया कुमार विष्णु द्वितीय के केन्दलूर दानपत्र और नन्दिवर्मन् के उदयेन्दिरम् दानपत्र के आधार पर दिनेशचन्द्र सरकार ने विष्णुगोप के बाद के पल्लवों की जो वंशपरम्परा निर्धारित की है इसका विवरण पृष्ठ ४९ की 'ख' तालिका में है।

उपर्युक्त तालिका के अनुसार काञ्ची पर मुख्य पल्लव शाखा के १५ से अधिक राजाओं ने शासन किया। इनकी शासनावधि ३५० ई० और ५७५ ई० के बीच निर्धारित की जा सकती है। संस्कृत अभिलेखों से कुछ ऐसे नामों का भी पता चलता है जो 'युवमहाराज' थे और जिन्होंने वास्तविक राजत्व कभी नहीं प्राप्त किया। ऐसे 'युवमहाराजों' के नामों को लेकर यह सूची १६ से भी अधिक राजाओं के नाम प्रस्तुत करती है। इन अभिलेखों में पल्लव के शाखा-वंशों के राजाओं के भी नाम आये हैं। दिनेशचन्द्र सरकार ने नेलौर-गण्टूर क्षेत्र के उपपल्लव शाखा के नृपों की एक सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है :—

१. वीरकूर्चवर्मन्
२. कुमारविष्णु
३. स्कन्दवर्मन् प्रथम
४. वीरवर्मन् प्रथम
५. स्कन्दवर्मन् द्वितीय
   विष्णुगोपवर्मन् प्रथम
६. सिंहवर्मन्
७. विष्णुगोपवर्मन् द्वितीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस तालिका में आये राजाओं का शासन काञ्ची में नहीं था। काञ्ची के उत्तर में, (नेलौर-गण्टूर क्षेत्र में) इन राजाओं ने अनुमानतः ३७५ ई० और ५७५ ई० के बीच शासन किया। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान के बाद, जब कि काञ्ची की विपन्नावस्था रही होगी, किसी पल्लव सामन्त ने नेलौर क्षेत्र में एक नये राजवंश का जन्म दिया। वीरकूर्च ही इस वंश का संस्थापक हो सकता है। इसने नागों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके अपने राजत्व की वृद्धि की थी। कुमारविष्णु से इसका क्या सम्बन्ध था—कहा नहीं जा सकता। किन्तु वीरकूर्च के बाद इसने वंश को अभिवृद्धि दी। इसने इसी उपलक्ष में अश्वमेध भी किया था। तालिका में दिये गये अन्य राजाओं का कोई विवरण ज्ञात नहीं है। सम्भवतः विष्णुगोपवर्मन् द्वितीय का उन्मूलन करके काञ्ची के सिंहविष्णु ने छठी शती के अन्तिम चरण में इस उपशाखा को भी मुख्य पल्लव साम्राज्य में समाहित कर लिया।

विष्णुगोप काञ्ची के पल्लव वंश का चतुर्थ राजा था। इसका पूर्ववर्त्ती शासक स्कन्दवर्मन् था, जिसका नाम प्राकृत अभिलेखों में भी आया है। विष्णुगोप (चतुर्थ शती का तीसरा चरण) और सिंहवर्मन् (५५० ई०–५७५ ई०) के बीच ८ राजाओं का २०० वर्षों का शासन काञ्ची पर सिद्ध होता है। सिंहवर्मन् से महान् पल्लवों की परम्परा चलती है, जिनका शासन उत्कर्षकालीन पल्लवों के इतिहास का अध्याय है।

इन दो सौ वर्षों के बीच विष्णुगोप के उत्तराधिकारियों ने पल्लव साम्राज्य को फिर से संगठित करने की चेष्टा की। विष्णुगोप को निस्संदेह समुद्रगुप्त के द्वारा गहरी क्षति पहुंची थी जिसका दीर्घकाकीन प्रभाव काञ्ची के पल्लवों पर पड़ा था। इस बीच कतिपय पल्लवों ने काञ्ची से पृथक् शाखा-राज्यों या सामन्त राज्यों की स्थापना की सफल चेष्टा की थी। संस्कृत अभिलेखों ने भ्रमवश समस्त पल्लव नरेशों के नामों को, चाहे वे युवमहाराज थे अथवा स्वतंत्र सामन्त राजा, एक ही वंश परम्परा में गुम्फित कर लिया है। फलतः पल्लवों के इस अवधि का इतिहास बहुत उलझा हुआ है। मुख्य शाखा के पल्लव विष्णुगोप के बाद कुमार विष्णु प्रथम का राजत्व केन्दलूर दानपत्र से इङ्गित होता है, किन्तु यह ठीक-ठीक नहीं पता चलता कि विष्णुगोप और कुमारविष्णु प्रथम में क्या सम्बन्ध था। सम्भवतः विष्णुगोप के पराभव के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद इस राजवंश के हाथ से काञ्ची भी निकल गया था। कुमारविष्णु को पुनः काञ्ची पर अधिकार करना पड़ा था। ऐसा कहना कठिन है कि कुमार विष्णु ने राजसत्ता का काञ्ची में पुर्नसंस्थापन किसी अन्य पल्लव शाखा के नृप को अपदस्थ करके किया था, अथवा चोलों को पराभूत करके। बुधवर्मन् को वेलूरपालयम् अभिलेख में 'चोलसैन्यार्णववाडवाग्नि' कहा गया है। अनुमानतः बुधवर्मन के समय में भी काञ्ची पर चोलों का आक्रमण हुआ था। किन्तु चोल आक्रमण सम्बन्धी तथ्य और आक्रामक का पता लगाना अभी तक असम्भव रहा है। इस प्रसंग में करिकाल का नाम लेना विद्वानों का दुराग्रह है, क्योंकि उसका समय और शासनकाल संस्कृत अभिलेखों में आये पल्लवों के काफी पहले समाप्त हो गया था। कुमारविष्णु द्वितीय (ल० पांचवीं शती के प्रथम चरण) और स्कन्दवर्मन् द्वितीय का वृत्तान्त अज्ञात है। इनके परस्पर सम्बन्ध भी अस्पष्ट हैं। किन्तु उदयेन्दिरम् दानपत्र से स्कन्द-वर्मन् द्वितीय और उनके उत्तराधिकारियों की निश्चित स्थिति ज्ञात होती है। इस अभिलेख का कर्त्ता नन्दिवर्मन् था जिसका प्रपितामह स्कन्दवर्मन् द्वितीय था। स्कन्दवर्मन् द्वितीय के बाद सिंहवर्मन् प्रथम का राजत्व हुआ जिसने ल० ४३६ ई० और ४५८ के बीच शासन किया। जैन कृति 'लोकविभाग' की रचना सिंहवर्मन् के २२ वें राजत्वकाल में सम्पन्न हुई थी। यह तिथि ३८० शक संवत् अर्थात् ४५८ ई० के लगभग ठहरती है। सिंहवर्मन् प्रथम के शासनकाल में बाण राजवंश के राजाओं की राजनीतिक गतिविधि से पल्लवों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था। इन पर स्थायी नियंत्रण रखने के लिए पश्चिमी गंग वंश के हरिवर्मन् को राजत्व प्रदान किया और उसके माध्यम से बाणों के विकास को अवरुद्ध किया। यह घटना ४५० ई० के आसपास की प्रतीत होती है। विद्वानों का अनुमान है कि इसके शासनकाल में किसी आक्रमण (चोल आक्रमण ?) से काञ्ची से इसका प्रभुत्व हट गया था। इसी कारण इसने कुछ दानपत्र (यथा ओमगुडु, पिकीर, दशपुर और पलस्कद के दानपत्र), काञ्ची से न प्रकाशित कर काञ्ची से दूर के स्कन्धावारों से शासन के चौथे और ग्यारहवें शासनवर्ष के बीच प्रकाशित किये थे। इसी तथ्य के आधार पर विद्वानों ने सिंहवर्मन् के काञ्ची राज्यासन से च्युति का सिद्धान्त निकाला है। किन्तु इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष के लिए यह एक साधारण आधार है। यदि ऐसी बात होती तो इसका कुछ न कुछ संकेत इन अभिलेखों में भी होता। अन्य किसी अभिलेख अथवा साहित्यिक साक्ष्य से भी इस तथ्य का संकेत नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलता। इस अवधि में किसी अन्य समसामयिक शक्ति का काञ्ची पर आधिपत्य होना किसी भी विधि से प्रमाणित नहीं है।

इसके उत्तराधिकारियों, (स्कन्दवर्मन् तृतीय, नन्दिवर्मन् प्रथम और शान्तिवर्मन्) के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सम्भवतः इस अवधि में (४५८ ई० से ५५० ई० तक) पल्लवों की स्थिति महत्त्वपूर्ण न थी। किसी 'चण्डदण्ड' ने जो काञ्ची का अधिपति था, छठी शती के आरम्भ में कदम्बों के राजा रविवर्मन् से युद्ध किया। शांतिवर्मन् ने भी कदम्बों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। यह 'चण्डदण्ड' शान्तिवर्मन् अथवा उसके पिता नन्दिवर्मन् का विरुद प्रतीत होता है।

समसामयिक अन्य राजनीतिक शक्तियाँ

जिन दिनों पल्लवों का राजनीतिक नवोन्मेष हो रहा था, दक्षिण भारत के प्रसिद्ध तीन राज्य चेर, चोल, पाण्ड्य गतिहीन से पड़े थे। कलभ्रों से प्रताड़ित चोलों की बुरी दशा थी। उरैयूर पर कलभ्रों का आधिपत्य छठी शती तक बना रहा। पांचवीं शती के उरैयूर निवासी बुद्धदत्त ने लिखा है कि कावेरीपट्टनम् कलभ्रों का केन्द्र था जहां से वे पूरे चोल साम्राज्य पर नियंत्रण रखते थे। उस समय कलभ्रों का राजा अच्युत विक्रान्त था। किन्तु जब कलभ्रों का दबाव कम हो गया तो भी चोल नवीं शती तक उठ न सके। बुधवर्मन् के समय में, जो 'चोलसैन्यार्णव का वड़वाग्नि' था, चोल और पल्लवों के बीच किसी संघर्ष की ध्वनि मिलती है, किन्तु काञ्ची पर इसके अधिकार की स्थापना की बात का कोई प्रमाण नहीं है। वस्तुतः नवीं शती तक पल्लव, पाण्ड्य और चालुक्यों के आगे चोलों की राजनीतिक स्थिति गौण थी। स्वयं चोल भी केवल कावेरी क्षेत्र में संगठित न हो सके थे। इसके विपरीत उरैयूर के अतिरिक्त तेलगु और कन्नड क्षेत्रों में भी, चोलों के कई शाखा राजवंश स्थापित हो गये थे। रेनाडु का चोल राजवंश अपेक्षाकृत महत्त्व का था और इसने परवर्त्ती पल्लव-चालुक्य युद्ध में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।

पाण्ड्य वंश की स्थिति भी इस समय सुनिश्चित नहीं कही जा सकती। 'संगम युग' के बाद पाण्ड्य राज्यवंश में भी स्थिरता न रही और कलभ्रों ने पाण्ड्य राजाओं को भी अपदस्थ किया। अच्युत विक्रान्त ने पाण्ड्य राजा को बन्दी बना रखा था। सातवीं से नवीं शती के बीच पाण्ड्य वंशावली कुछ कुछ स्पष्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होने लगती है। नेडुञ्जडैयन् के वेल्वीकुडी दानपत्र और राजसिंह के लघु तथा बृहत् शिन्नामनूर दानपत्रों से पाण्ड्य वंश-वृत्तान्त उपलब्ध करने में सहायता मिलती है। ६०० ई० के आसपास प्रथम पाण्ड्य साम्राज्य की स्थापना प्रतीत होती है। कडुङ्गोन् (५९० ई०-६२० ई०) प्रतापी था और इसी के पराक्रम का परिणाम था कि छठी शती के अन्तिम चरण में पाण्ड्य जनपद कलभ्रों के दवाव से मुक्त हुआ। इसके उत्तराधिकारियों ने कलभ्र प्रभाव से मुक्त होकर अपनी शक्ति पाण्ड्य साम्राज्य की स्थिरता और संगठन में लगायी।

मैसूर के पश्चिमी गंग समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान के बाद सबल हो उठे थे। इस वंश का स्थापक कोंगुनिवर्मन् अथवा माधव प्रथम था जिसने अनुमानतः ३५० ई० और ४०० ई० के बीच शासन किया। इसकी राजधानी कोलार थी। माधव द्वितीय विद्वान् था और नीतिशास्त्र, उपनिषद् आदि का अच्छा ज्ञाता था। हरिवर्मन् (४५० ई०-४६० ई०) ने गंगवाड़ी (गंग शासन क्षेत्र) की राजधानी तलकाड में स्थिर की। इसका पल्लव नरेश सिंह-वर्मन् से अच्छा सम्बन्ध था, और राजत्व भी उसी के सहयोग से प्राप्त किया था। अभिलेखीय प्रमाण के द्वारा हरिवर्मन् सिंहवर्मन् द्वारा अभिषिक्त भी था। सम्भवतः इस समय पल्लवों के अधीन गंगवंश सामन्त राज्य का ही पद प्राप्त कर पाया था। ऐसी स्थिति बाद तक भी, (कम से कम माधव तृतीय ४६० ई०-५०० ई०) बनी रही। अवनीत का शासन काल ५००-५४० ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

किन्तु दुर्विनीत (५४० ई०-६०० ई०) के शासन काल में आनुवंशिक नीति और स्थिति में भी स्पष्ट परिवर्तन हुआ और गंग वंश का पल्लव वंश से सम्वन्ध परिवर्तित हो गया। दुर्विनीत की पल्लवों से शत्रुता थी। उसने पुन्नाड (दक्षिणी मैसूर) और कोङ्गुदेश को विजित किया। चालुक्यों से मैत्री सम्बन्ध का निर्वाह किया। काञ्ची पर भी धावा किया और वहाँ के किसी काडुवेट्टि नामक राजा को (जिसकी पहचान कठिन है) पराजित किया। वैष्णव धर्म के प्रति इसकी बड़ी अनन्यता थी किन्तु जैन धर्म के प्रति भी इसकी बड़ी उदार भावना थी। यह साहित्य और संस्कृति का पोषक था और स्वयं भी कन्नड भाषा का अच्छा कवि था। 'किरातार्जुनीयम्' के पन्द्रहवें सर्ग की इसने टीका भी की थी। यह 'शब्दावतार' नामक व्याकरण ग्रन्थ का रचयिता था और इसने प्राकृत ग्रन्थ 'वृहत्कथा' का संस्कृत में अनुवाद भी प्रस्तुत किया था। भारवि इसके दरबारी कवि थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तालगुण्ड अभिलेख में कदम्बवंश का अच्छा वृत्तान्त सुरक्षित है। उसमें कदम्ब वंश परम्परा का शुद्ध विवरण है। इस वंश का संस्थापक मयूरशर्मन् था, जो ब्राह्मण था और अपने वैदिक ज्ञान के लिये प्रसिद्ध था। सीमावर्त्ती पल्लवों से उसका संघर्ष हुआ था और उनसे उसने श्रीपर्व की वनस्थली (करनूल के आस-पास) छीन ली थी। उसने बाण वंश को भी पराभूत किया था। चन्द्रवल्ली अभिलेख से पता चलता है कि उसने 'आभीर, त्रैकूट, पल्लव, पारियात्रिक, शकस्थान, सैन्दक, पुनाट और मोकरी' जनपदों को जीता था। इसने १८ बार अश्वमेध यज्ञ भी किये थे। प्रस्तुत अभिलेखीय विवरण कुछ विद्वानों की दृष्टि में उहापोह है। किन्तु इससे इतना अनुमान होता है कि समुद्रगुप्त के विजय से दक्षिण भारत की राजनीतिक व्यवस्था में जो असन्तुलन आया उसका लाभ मयूरशर्मन् ने भी उठाया। इसकी शासन-अवधि अनुमानतः ३४० ई० और ३७० ई० के बीच निर्धारित की जा सकती है। इसकी राजधानी बनवासी थी।

मयूरशर्मन् का उत्तराधिकारी कङ्गवर्मन् अथवा स्कन्दवर्मन् था। इसने ३७५ ई० और ३९५ ई० के बीच शासन किया। इसने अपने वंश का नामान्त 'शर्मन्' से 'वर्मन्' किया और स्वयं 'धर्म महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। किन्तु इसका साम्राज्य वाकाटक नरेश विन्ध्यसेन द्वारा आक्रान्त हुआ और कुन्तल वाकाटकों के आधीन हो गया। इसके बाद कङ्गवर्मन् का पुत्र भगीरथ (३९५ ई०–४२० ई०) यशस्वी हुआ और उसने पुनः अपनी राजसत्ता सुदृढ़ कर ली। इसी के शासन काल में, कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कालिदास को दौत्यकर्म के लिए कुन्तल भेजा था। कुन्तलेश भगीरथ के दो पुत्र रघु और काकुस्थवर्मन् थे। प्रथम ने ४२०–४३० ई० तक और द्वितीय ने ४३० ई० से ४५० ई० तक शासन किया। इसके शासन काल में भी, जैसा कि तालगुण्ड अभिलेख से पता चलता है, गुप्तों से कदम्ब दरबार का अच्छा सम्बन्ध था और वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा इस परम्परागत सम्बन्ध की निरन्तर पुष्टि भी की जा रही थी। यह बड़ा उदार और सुशासक था। इसके साम्राज्य में चतुर्दिक शान्ति और समृद्धि थी।

काकुस्थवर्मन् के बाद कदम्ब साम्राज्य इसके दो पुत्रों, कृष्णवर्मन् और शान्तिवर्मन्, के अधिपतित्व में विभक्त हो गया। शान्तिवर्मन् के पुत्र मृगेशवर्मन् (४७५ ई०–४९० ई०) के अधीन बनवासी था और इसने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंश-प्रतिष्ठा फिर से स्थापित की। इसने पल्लव और पश्चिमी गंग वंश के राजाओं को भी पराजित किया। किन्तु कुछ काल तक के लिए (ल० ४७५ ई०–४९७ ई०) उच्छङ्गी में कदम्बों का एक शाखा-वंश भी कुमारवर्मन्, (जो शांतिवर्मन् का एक दूसरा भाई प्रतीत होता है) के नेतृत्व में स्थापित हो गया। मृगेशवर्मन् के पुत्र रविवर्मन् (ल० ४९७ ई०–५३७ ई०) ने समस्त शाखा कदम्ब वंशों को पराभूत करके बनवासी में कुन्तल साम्राज्य के ऐश्वर्य की पुनः प्रतिष्ठा की। इसने पश्चिमी गंगवंश को भी हराया था। किन्तु इसका पुत्र हरिवर्मन् (ल० ५३७ ई०–५४७ ई०) निर्बल शासक सिद्ध हुआ। इसके शासन काल में कदम्बवंश पुनः अनेक शाखा-वंशों में विभक्त हो गया। इस विपन्न परिस्थिति का लाभ उठाकर इसी के सामन्त पुलकेशिन् प्रथम ने बादामी में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली।

कृष्णवर्मन् प्रथम के आधीन कदम्बों का जो शाखा वंश स्थापित हुआ था, उसका भी विवरण महत्त्वपूर्ण है। कृष्णवर्मन् प्रथम ने ल० ४७५–४८५ ई० के बीच शासन किया। इसका शासन केन्द्र त्रिपर्वत अथवा हलेबिड में था। इसने अश्वमेध यज्ञ किये थे। किन्तु शासन के अन्तिम वर्षों में इसे पल्लवों से पराजित होना पड़ा। इसके बाद इसके पुत्र विष्णुवर्मन् (ल० ४८५ ई०–४९७ ई०) को पल्लवों ने अपने सामन्त राज के रूप में अभिषिक्त किया। इसने पल्लवों से मिलकर बनवासी पर आधिपत्य की व्यर्थ चेष्टा की थी। इस प्रयास में इसे प्राण गँवाना पड़ा। इसका उत्तराधिकारी सिंहवर्मन् (ल० ४९७ ई०–५४० ई०) बनवासी के मुख्य कदम्ब वंश का सामन्त बना। किन्तु यह स्थिति दीर्घकालीन न रह सकी। कृष्णवर्मन द्वितीय ने पुनः वंश प्रतिष्ठा जगायी और बनवासी के कदम्बों को पराजित कर अपने को मुक्त किया। इसने अश्वमेध भी किया था। गंग वंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उससे अपनी स्थिति दृढ़ की थी। किन्तु छठी शती के आरम्भ में इसको उदीयमान चालुक्यों की पराधीनता भोगनी पड़ी और कीर्तिबर्मन प्रथम (चालुक्य) और पुलकेशिन् द्वितीय से आक्रान्त होकर क्रमशः कदम्बों का यह शाखा वंश भी समाप्त हो गया।

सामन्त राजवंशों में बाण राजवंश बड़ा शक्तिशाली था। आरम्भ में तो इनकी स्थिति पल्लवों के लिए भी कठिन थी किन्तु बाद में बाण पल्लवों के आधीन सामन्त हो गये। इनके इतिहास की सामग्री बड़ी थोड़ी है। बाण वंश के नृप अपने को 'महाबलि' कहते थे और 'वृष' उनका राजचिह्न था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उदयैन्दिरम् और गुडीमल्लम् अभिलेखों से बाणों की वंश परम्परा स्पष्ट होती है। जयनन्दिवर्मन् बाण वंश का संस्थापक था और आन्ध्रपथ के पश्चिम में इसका प्रभाव स्थापित था। इसका उत्तराधिकारी विक्रमादित्य था। बाणों के अभिलेख उत्तरी अर्काट अर्थात् कोलार और अनन्तपुर जिलों से उपलब्ध हुये हैं। सम्भवतः यही बाणों का विजित भी था।

दक्षिणी कनारा अर्थात् तुलुव जनपद में आलुप वंश की प्रतिष्ठा थी। ये शैव थे तथा ईसवी प्रथम शती से राजवंश के रूप में संगठित हो गये थे। पाँचवीं शती में कीर्तिवर्मन् प्रथम और पुलकेशिन् द्वितीय के विजयों से पराभूत होकर इन्हें चालुक्यों के अधीन हो जाना पड़ा था।

इस आलोच्य अवधि में अशोकयुगीन सतियपुत्र और संगमयुगीन चेर राज्य की नगण्य स्थिति थी। यह जनपद (कोङ्गुदेश और केरल) पश्चिमी गंग, पल्लव और पाण्ड्य आक्रान्ताओं द्वारा बराबर पराभूत होता रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ५

प्रथम पाण्ड्य साम्राज्य

प्रथम पाण्डय साम्राज्य के इतिहास के लिए आधार सामग्री निम्नलिखित अभिलेखों से प्राप्त होती है :--

(१) परान्तक नेडुञ्जडैयन् का विल्वीकुडी दानपत्र ।
(२) लघु शिन्नमनूर ताम्रपत्र ।
(३) राजसिंह का बृहत् शिन्नमनूर ताम्र-पत्र ।
(४) जटिलवर्मन् के मद्रास म्यूजियम के दानपत्र ।
(५) मारञ्जडैयन् का अन्नमलाई प्रस्तर अभिलेख ।
(६) परान्तक का ७७० ई० का लेख ।
(७) वरगुण का ८७० ई० का अैवरमलाइ का अभिलेख ।

इन अभिलेखों से पल्लवों की वंश परम्परा के लिये यद्यपि प्रचुर सामग्री उपलब्ध है किन्तु इनके अध्ययन से विद्वानों के निष्कर्ष समान नहीं हैं। नीलकण्ठ शास्त्री के आधार पर पल्लव नरेशों का शासन क्रम और सम्भावित शासन अवधि की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है :—

(१) कडुङ्गोन् (ल० ५९०–६२० ई०)
(२) मारवर्मन् अवनिशूलमणि (ल० ६२०–६४५ ई०)
(३) शेन्दन् (ल० ६४५–६७० ई०)
(४) अरिकेशरीमारवर्मन् (ल० ६७०–७१० ई०)
(५) कोच्चडयन् (ल० ७१०–७४० ई०)
(६) मारवर्मन् राजसिंह प्रथम (ल० ७४०[1]–७६५ ई०)
(७) जटिल परान्तक नेडुञ्जडैयन् (ल० ७६५–८१५ ई०) ·

उपर्युक्त तालिका वेल्वीकुडी दानपत्र के अनुसार है। इसके बाद की वंश परम्परा बृहत् शेन्नमनूर दानपत्रों से स्पष्ट है। इस अभिलेख के अनुसार जटिल परान्तक के बाद के चार राजाओं की परम्परा इस प्रकार थी :—

---

१. श्री नीलकंठ शास्त्री अन्यत्र (हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया पृ० १४९) राजसिंह के राज्यारोहण की तिथि ७३० ई० निर्धारित करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(८) श्री मार श्री वल्लभ (ल० ८१५–८६२ ई०)

(९) वरगुणवर्मन् (ल० ८६२–८८० ई०)

(१०) परान्तक वीरनारायण (ल० ८८०–९०० ई०)

(११) मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय (ल० ९००–९२० ई०)

कडुङ्गोन् के द्वारा पाण्ड्यवंश की स्थापना हुई तथा उसने कलभ्रों से पाण्ड्य जनपद को मुक्ति दिलायी। इसके अतिरिक्त उसके विषय में और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसके उत्तराधिकारी मारवर्मन् अवनिशूलमणि के विषय में और भी कम सूचना उपलब्ध है। किन्तु इसका उत्तराधिकारी शेन्दन् अथवा जयन्तवर्मन् (६४५–६७० ई०) के समय में वंश की प्रतिष्ठा बढ़ी। इनका उपनाम 'वानवन्' भी था, जो इस बात का द्योतक है कि इसने अपने समकालीन चेर राजा को पराजित करके चेर जनपद पर प्रभुत्व स्थापित किया था। यह अपने सैन्यबल और न्यायबुद्धि के लिये बड़ा लोकप्रिय था। इसका पुत्र और उत्तराधिकारी अरिकेशरी मारवर्मन्, जिसे शिन्नमनूर अभिलेख में अरिकेशरी पराङ्कुश भी कहा गया है, इस वंश का प्रथम प्रतापी राजा था, जिसके शासनकाल में पाण्ड्य राज्य की साम्राज्यवादी प्रतिभा का प्रथम प्रस्फुटन हुआ। वेल्वीकुडी दानपत्र और शिन्नमनूर दानपत्रों में बड़े मुखर शब्दों में इसकी विजयकीर्ति गायी गयी है।

वेल्वीकुडी दानपत्र के अनुसार उसने विल्वीलि की सेना पर नेल्वीलि के युद्धस्थल में तिन्निवेलि के पास विजय पायी थी। वेल्वीलि की पहचान ठीक-ठीक नहीं हो सकी है। उसका विजय परवस नामक जाति पर भी थी और उनसे करुनाड्डु क्षेत्र प्राप्त किया था। इस विजय से पाण्ड्य जनपद का दक्षिणी-पूर्वी समुद्रतट अरिकेशरी मारवर्मन् के आधीन हुआ। इसी तरह की विजय उसने पालि जनपद पर भी की। इसके अतिरिक्त उसकी साम्राज्यवादी नीति का शिकार केरल का समकालीन नृप भी हुआ। किन्तु इस विजय का विवरण बड़ा ही अपूर्ण है। पल्लवों के साथ भी इसका संघर्ष हुआ। इन विजयों के कारण अरिकेशरी मारवर्मन् की राज्यसीमा अपनी परम्परागत सीमा को लाँघकर सुविस्तृत हो गयी और पाण्ड्यों के प्रथम साम्राज्य की आधारशिला और दृढ़ता से स्थिर हो गयी उसने अनेक बार 'हिरण्यगर्भ' और 'तुलाभार' नामक धार्मिक कृत्यों का सम्पादन किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अरिकेशरी मारवर्मन् की पहचान आनुश्रुतिक कूण पाण्ड्य से भी की जा सकती है। 'पेरियपुराणम्' के अनुसार कूण पाण्ड्य अथवा अरिकेशरी मारवर्मन् का वैवाहिक सम्बन्ध चोलवंश से भी था।

अरिकेशरी मारवर्मन् के पुत्र और उत्तराधिकारी का नाम कोच्चडैयन् था, जिसे रणधीर भी कहते थे। यह परम वीर और साम्राज्यवादी था। अपनी राज्यसीमा को लांघ कर इसने चेर और चोलमण्डल को आक्रान्त किया था। इसी सफलता के कारण उसकी 'वानवन् शेम्बियन् और शोलन्' उपाधियाँ प्रसिद्ध थीं। इसने 'मदुर करुनाटकन्' और 'कोङ्कर्कोमात्' की भी उपाधि धारण की थी जो इस बात का द्योतक है कि इसका आधिपत्य मदुरा और कोङ्ग देश पर भी था। मंगलापुरम् (मंगलौर) के महारथों को भी उसने जीता था। पर्वतीय राजा आय से भी इसका युद्ध हुआ और उसे पराधीन किया। किन्तु पश्चिमी तट के ये स्थल बहुत दिनों तक कोचडैयन के आधीन न रह सके। सम्भवतः उसके जीवनकाल ही में, अथवा मरते ही मंगलापुरम् और आय का क्षेत्र उसके नियंत्रण से पृथक हो गया और इसके लिए इसके पुत्र मारवर्मन् राजसिंह प्रथम को पुनः युद्ध करना पड़ा।

मारवर्मन् राजसिंह प्रथम भी अपने पिता की ही भाँति प्रतापी और यशस्वी था। इसने पल्लव और कोङ्गु जनपद के लिए कई सफल संघर्ष किये। मद्रास म्यूजियम दानपत्र में इसे 'पल्लव भंजन' कहा गया है तथा कहा गया है कि इसके पल्लव प्रतिद्वन्दी पल्लवमल्ल को रण छोड़कर भागना पड़ा। वेल्वीकुडी दानपत्र के तमिल अंश में पल्लवों के विरुद्ध इसकी सफलताओं की अच्छी चर्चा है। इसमें कहा गया है कि इसने नेडूवयाल, करुमन्डयै, मणिकुर्चि, तिरुभंगै, पूर्वल्लूर, कोडुम्बाल्लूर आदि का विजय किया। कोलुम्बूर के युद्ध में राजसिंह ने पल्लवमल्ल को पराजित कर पल्लवों से असंख्य हाथी और घोड़े प्राप्त किये। पल्लवों के विरुद्ध उसने पेरियल्लूर के युद्ध में भी सफलता प्राप्त की और कावेरी के काँठे में (त्रिचनापल्ली और तंजोर के जिले) प्रवेश किया। उसने मालवराज को भी पराभूत किया और अन्त में उनकी कन्या से विवाह कर दोनों राज्यों के बीच कन्योपायन सम्बन्ध स्थापित किया। तदुपरान्त इसका विजय पाण्डिक्कोडुमुडी पर भी हुआ; जहाँ उसने पशुपति भगवान के चरणकमलों की पूजा की। सम्भवतः उसने गंग राजवंश से भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। इस वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में गङ्ग वंश के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेखों में सूचना नहीं है; केवल वेल्वीकुडी दानपत्र ही में इसका संकेत है। अतएव यह तथ्य पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है।

राजसिंह प्रथम की अनेक उपाधियाँ थीं। इसने गोसहस्र, हिरण्यगर्भ और तुलाभार यज्ञ सम्पन्न किये। इसने चेर और चोल वंश पर भी अपना प्रभाव स्थापित किया था। इसका शासन काल ७४० ई० और ७६५ ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

विभिन्न अभिलेखों से राजसिंह प्रथम के उत्तराधिकारी के अनेक नाम ज्ञात होते हैं, यथा जटिल, परान्तक, वरगुणमहाराज, मारञ्जडैयन् और नेडुञ्जडैयन् ये सभी नाम एक ही व्यक्ति के थे। इसका शासन लम्बी अवधि का (७६५ ई०–८१५ ई०) था। इसके अभिलेख इसके तीसरे राजत्व वर्ष से तैतालीसवें राजत्व वर्ष की घटनाओं की सूचना देते हैं।

तीसरे राजत्व वर्ष के पूर्व ही कावेरी के दक्षिणी तट पर स्थित पेंडागडम् (तंजोर के निकट) नामक स्थान पर इसका युद्ध नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल अथवा उसके किसी सामन्त के साथ हुआ। इस विजय का पल्लवों पर बुरा प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के कुछ ही समय बाद इसने आयवेल को परास्त किया। आयवेल परान्तक के विरुद्ध नाट्टुक्कुरम्बु क्षेत्र में षडयन्त्र का आयोजन कर रहा था। सत्रहवें राजत्व वर्ष के पूर्व उसने अपनी युद्ध और साम्राज्यवादी नीति का विस्तार किया और इस सन्दर्भ में उसने पाण्ड्य जनपद के उत्तर के सीमान्त राज्यों में दूर-दूर तक विजय किया। इस अभियान से उसने पल्लव तथा उनके सहयोगी सामन्तों पर, जिनसे उनकी पुश्तैनी दुश्मनी थी, अपने पिता की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी नियन्त्रण स्थापित करने में सफल हुआ। इसके अन्य विजयों में वेल्लूर, विड्डुम और शेलियक्कडी भी शामिल है, किन्तु यह बताना कठिन है कि इन विजयों में परान्तक के विरोधी कौन थे। पल्लव और केरल राजाओं के सहयोग और प्रेरणा से अडिगन् पाण्ड्यराज परान्तक के विरुद्ध सन्नद्ध था। किन्तु परान्तक ने अडिगन् को दो बार आइरवेलि अइरूर और पुगलीयूर के युद्ध में पराजित कर भगा दिया। अडिगन् की हार से परान्तक के अधीन पश्चिमी कोङ्कु जनपद हो गया। उसने दक्षिणी त्रावंकोर के राजा वेड़ाद को हटाकर 'विलिन्म्' दुर्ग को तथा उसके बहुत से हाथी घोड़े पर अधिकार प्राप्त कर लिया। त्रिवेन्द्रम् संग्रहालयस्थ प्रस्तर शिलालेख से पता चलता है कि वेड़ाद का उसका पहला विजय चिरस्थाई न रहा और उसे पुनः दस वर्ष बाद इस क्षेत्र में सैनिक कारवाई करनी पड़ी। शासन के तेइसवें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ष उसने शैडयन् करनन्दन के विरुद्ध अभियान किया और उससे मलयनाडु प्राप्त किया। इस प्रकार अभियान से उसके अधीन त्रावंकोर का सीमान्त प्रदेश भी हो गया।

सत्ताइसवें राजत्व वर्ष के बाद पाण्ड्यराज परान्तक ने कोई युद्ध नहीं किया। उसके सामर्थ्य की धाक चतुर्दिक जम गयी और वह अगले लगभग तेरह वर्ष तक निर्द्वन्द शासन करता रहा। अपने शौर्य के आधार पर इसने पाण्ड्य साम्राज्य को स्थायित्व दिया और पाण्ड्य साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत कोङ्गु और वेड़ाद का जनपद समाहित किया। पाण्ड्य जनपद के दक्षिण का सारा क्षेत्र उसके आधीन था तथा उत्तर में त्रिचनापल्ली, तंजोर, सलेम और कोयम्बक्टूर के जिले भी उसके आधिपत्य में थे। इन विजयों को देखते हुये परान्तक नेडुञ्जडैयन् को प्रथम महान् पाण्डय कहना सर्वथा समीचीन होगा।

श्री मार श्री वल्लभ जो कि परान्तक नेडुञ्जडैयन का उत्तराधिकारी था, बड़ा प्रतापी था और इसने अपने शासनकाल में (८१५ ई०–८६२ ई०) पाण्ड्य राज्य को और विवर्धित किया। इसका विरुद 'एकवीर' और 'पर चक्रकोलाहल' था जो उसके शौर्य और पराक्रम का द्योतक है। बृहत् शिन्नमनूर अभिलेख में इसके चरित और उपलब्धियों की अच्छी चर्चा है। इसमें इसके विजयों का वर्णन करते हुये इनको 'प्रेमपात्रप्रजानाम्' कहा गया है। इसने भी अपने परम्परागत शत्रुओं से यथा पल्लव, गंग, चोल आदि से युद्ध किया और अपने पराक्रम से पाण्डय साम्राज्य को स्थायित्व दिया। इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विजय सिंहल की थी। इस अभिलेख का वर्णन है कि इसने 'मायापाण्ड्य, केरल, सिंहल, पल्लव और वल्लभ' राजाओं को परास्त किया। कुन्नूर और विलिन्म को पुनः अपने वश में किया, जो इसके पिता की मृत्यु के बाद स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक थे। ऐसा लगता है कि पाण्डय साम्राज्य का पश्चिमी इलाका, जिसमें केरल भी शामिल था, पाण्ड्यों की आधीनता से मुक्त होने ने लिए सदैव सचेष्ट रहता था। इसी कारण पाण्डय राजा, परान्तक नेडुञ्जडैयन् तथा श्रीमार वल्लभ दोनों को ही अनेक प्रयत्न इस क्षेत्र को नियन्त्रित करने के लिए करने पड़े थे। श्रीमार वल्लभ के विरुद्ध उसके समसामयिक शत्रुओं ने एक सामरिक संघ की भी रचना की थी, जिसके प्रमुख सदस्य न केवल उसके वंशगत शत्रु गंग, पल्लव और चोल थे, बल्कि कलिङ्ग और मगध के भी राजा थे। किन्तु कुडमुक्कू (कुम्भकोणम्) के युद्ध में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रीमार वल्लभ ने इस सामरिक संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया और शत्रुओं को परास्त किया।

इसके सिंहल विजय और 'मायापाण्ड्य' के प्रति विरोधी अभियान की चर्चा 'महावंश' में भी है 'मायापाण्ड्य' की पहचान करना कठिन है किन्तु ऐसा समझा जाता है कि यह श्रीमार वल्लभ का कोई राजनीतिक प्रतिद्वन्दी था, जिसने लंका के राजा की सहायता से पाण्ड्य सिंहासन प्राप्त करने की असफल चेष्टा की थी। 'महावंश' के वृत्तान्त के अनुसार सिंहलराज सेन प्रथम के शासनकाल में पाण्ड्य नृप ने (श्रीमार वल्लभ) महातलित के युद्ध में सेन प्रथम को पराजित किया। सिंहल नरेश पलायित होकर मलय प्रदेश में आया। किन्तु इसी बीच लंका को पाण्ड्य सैन्यदल ने रौंद डाला। किन्तु लौटते समय पाण्ड्य राज श्रीमार वल्लभ ने सेन प्रथम से समझौता कर लिया और उसे उसका राजपाट लौटा दिया। 'महावंश' में इसके बाद श्रीमार वल्लभ के विरुद्ध लंका के राजाओं की सैनिक सफलताओं का उल्लेख किया है। इस विवरण के अनुसार सेन प्रथम के बाद सेन द्वितीय का राज्यारोहण हुआ, जिसने श्रीमार वल्लभ के विरुद्ध किसी 'मायापाण्ड्य' से मिलकर दुरभिसन्धि की। दोनों ने मिलकर पाण्ड्य जनपद को जीत लिया और पाण्ड्य नरेश (श्रीमार वल्लभ) पराजित होकर भाग गया तथा बाद को उसने पत्नी सहित आत्महत्या कर ली।

किन्तु 'महावंश' का यह विवरण किसी भारतीय साक्ष्य से प्रमाणित नहीं होता। बृहत् शिन्नमनूर दानपत्र से ऐसा तनिक भी संकेत नहीं मिलता कि श्रीमार वल्लभ को इस प्रकार की कोई विपत्ति झेलनी पड़ी थी अथवा उसका राजत्व क्षतिग्रस्त हुआ था।

'महावंश' के अत्युक्तिपूर्ण विवरण पर यद्यपि विश्वास नहीं किया जा सकता किन्तु पल्लव अभिलेखों से मुख्यतया, बाहूर दानपत्रों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि शासन के अन्तिम वर्षों में उसे अपने साम्राज्य के अस्तित्व के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा था। 'मायापाण्ड्य' के अस्तित्व से उसके शत्रुपक्ष को बल मिला था। 'विलिन्म' के क्षेत्र में पुनः अशान्ति हो चली थी जिसका नियंत्रण करने में श्रीमार वल्लभ को पर्याप्त श्रम करना पड़ रहा था। पल्लवों की स्थिति भी इस समय (८३० ई० के लगभग) अपेक्षाकृत सुदृढ़ थी। नन्दि पल्लव ने श्रीमार वल्लभ के विरुद्ध अभियान किया था और उसे 'तेलारू' के युद्ध में पराजित कर दिया था।

तेलारू के युद्ध के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं कि यह युद्ध कुड़मुक्कु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युद्ध के पूर्व हुआ था अथवा बाद को। बाहूर दानपत्र का इस संदर्भ में प्रस्तुत विवरण ध्यान देने योग्य है। इसका विवरण है कि 'पल्लवों की सेना, जो कि पहले पाण्ड्यों से पराजित हो चुकी थी, इस राजा (नृपतुङ्ग, जो नन्दि का उत्तराधिकारी था) के नेतृत्व में अरिचित नदी के तट पर शत्रुओं (पाण्ड्यों) की सेना और समृद्धि को नष्ट करने में सफल हुई।' इस अभिलेख में इङ्गित 'विगत पाण्ड्य–पल्लव संघर्ष' का तात्पर्य कुडमुक्कु (कुम्भ-कोणम्) युद्ध से तो है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि यह विगत संघर्ष तेलारू युद्ध के पूर्व ही अर्थात् ८५४ ई० के पूर्व ही हुआ था। ऐसा सम्भव है कि कुम्भकोणम् युद्ध के बाद जब पल्लवों की स्थिति संभली हो तब नन्दिपल्लव ने तेलारू के युद्ध में श्री मार वल्लभ को हराया हो, और पुनः नृपतुङ्ग ने भी दूसरी बार अरिचित के युद्ध में श्री मार वल्लभ को पराजित कर रही सही कसैर पूरी की हो। और चूंकि दोनों ही पराजयों में समय की दृष्टि से कम दूरी रही हो और प्रभाव की दृष्टि से समान, अतएव अभिलेखकार ने अपने ही आश्रयदाता नृपतुङ्ग का विवरण देकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया हो और तेलारू के युद्ध के विजेता और नृपतुङ्ग के दिवङ्गत पिता नन्दि के विजय के पृथक उल्लेख की आवश्यकता न समझी हो। वैसे जहां तक पाण्ड्य अभिलेखों तथा अन्य साक्ष्यों का सम्बन्ध है, वे इन दो विजयों के आधार पर किसी विशेष परिणाम की सूचना नहीं देते। इन दोनों युद्धों का सामरिक प्रभाव जो भी रहा हो, श्री मार वल्लभ का राजत्व अप्रभावित और अक्षुण्ण रहा और वह अपने जीवन के अन्तिम वर्षों तक (८६२ ई०) अपने विशाल साम्राज्य का उपभोक्ता बना रहा। तंजोर के पास से मिले प्रभूत दानपत्रों से ऐसा संकेत मिलता है कि यद्यपि पल्लव और पाण्ड्यों के बीच सीमान्त युद्ध निरन्तर होते रहे, पाण्ड्यों की स्थिति तंजोर क्षेत्र में, जिसके लिए पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष प्रायः हुआ करता था, दृढ़ रही और उनका अधिकार पल्लवों के विरुद्ध बना रहा।

श्री मारवर्मन का उत्तराधिकारी वरगुणवर्मन के विषय में कुछ विशेष जानकारी नहीं है। इसने पल्लवों से शान्तिपूर्ण सम्बन्धों का निर्वाह चाहा, और सम्भवतः इसके शासन काल में पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष का कोई नया अध्याय न खुला। वैसे पल्लव चोलों से सम्पर्क रखकर तंजोर के आसपास की राजनीतिक गतिविधि में सक्रिय भाग लेने से विरत भी नहीं रहे। परिणामतः पाण्ड्यों के विरुद्ध चोलमण्डलम् और तोण्डीनाड में काफी विद्वेष फैलता जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा था। वरगुण तब तक तो शान्त रहा जब तक कि नृपतुङ्ग जीवित रहा। उसके मरते ही ८८० ई० में अपराजित (पल्लव) और आदित्य प्रथम (चोल) के शासन काल में उसने चोल जनपद के अलवै स्थान पर आक्रमण कर दिया। उसे आंशिक सफलता मिली और उसकी सेना उत्साह में पल्लवों की राज्य सीमा की दिशा में उत्तर की ओर चढ़ दौड़ी। पल्लवों और पाण्ड्यों की मुठभेड़ श्री पुरंबियम् (कुम्भकोणम् के पास) में हुई। पल्लवों की ओर से गंगराज पृथ्वीपति प्रथम भी युद्ध में उतर पड़ा था। सम्भवतः आदित्य चोल भी पल्लवों की ओर था। युद्ध का परिणाम गुणवर्मन् के विरुद्ध हुआ और उसे मुंहकी खानी पड़ी। गंगराज पृथ्वीपति तो युद्ध में मारा गया किन्तु आदित्य को पाण्ड्यों का कुछ प्रदेश उपलब्ध हो गया।

इस युद्ध के कुछ ही समय बाद वरगुण मर गया। इसके बाद इसका छोटा भाई (वरगुण निस्संतान था) श्री परान्तक वरनारायण शड्यान् पाण्ड्य राजपीठ पर आसीन हुआ। इसका शासनकाल (८८० ई०—९०० ई०) बड़ा शान्तिपूर्ण रहा और इसने चेर राज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का निर्वाह किया। इसने प्रयत्नपूर्वक पाण्ड्य साम्राज्य की सुरक्षा की तथा उसे चोल और पल्लव, मुख्यतया चोलों से सुरक्षित रखा। इस प्रयत्न में उसे एकाध युद्ध भी करने पड़े—यथा शिन्नमनूर के अभिलेख के अनुसार इसने खरागिरि के पास किसी उग्र नामक राजा को, पराजित किया और पेन्नागडम् तथा कोङ्गु जनपद पर प्रभुत्व स्थापित किया। किन्तु प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इन युद्धों की ऐतिहासिकता तथा प्रभाव पर कुछ और नहीं कहा जा सकता।

इसका पुत्र मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय था। बृहत् शिन्नमनूर दानपत्र इसी के शासनकाल में प्रकाशित किया गया था। इसका शासनकाल ९०० ई० और ९२० ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

राजसिंह द्वितीय ने उलप्पिलीमंगलम् और तञ्जैयरकोन् (तंजोर के राजा) पर विजय की स्थापना की और वञ्जी जनपद को भी आक्रान्त किया। किन्तु पृथ्वीपति द्वितीय के उदयेन्दिरम् दानपत्र से राजसिंह के पराभव कालीन इतिहास का वृत्तान्त उपलब्ध होता है। इसके अनुसार राजसिंह द्वितीय को चोल नृप परान्तक प्रथम ने ९०७ ई० के आसपास पराजित किया था। किन्तु अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए राजसिंह द्वितीय ने सिंहल के राजा के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित की और उसके सहयोग से चोल जनपद को आक्रान्त कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया। वेल्लूर के युद्ध में चोल नृप परान्तक प्रथम ने राजसिंह और उसके सिंहलदेशीय सहयोगी सैनिकों को बुरी तरह परास्त किया। इस हार में राजसिंह न केवल पाण्ड्य साम्राज्य गंवा बैठा, बल्कि मदुरा से भी उसे हाथ धोना पड़ा। मदुरा को छोड़ कर राजसिंह सिंहल भाग गया तथा परान्तक प्रथम ने मदुरा को आधीन कर ९१० ई० में 'मधुरान्तक' और 'मदुरैकोण्ड' की उपाधि धारण की।

वेल्लूर के इस युद्ध का बड़ा घातक प्रभाव पाण्ड्यों की अभिवृद्धि पर पड़ा। पाण्ड्यों का प्रथम साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और धीरे-धीरे इनका सारा विजित चोलों का उपभोग्य बन गया। राजसिंह ने सिंहल नरेश के सहयोग से पाण्ड्य राजपीठ को पुनः प्राप्त करने की अनेक चेष्टाएँ कीं किन्तु उसके सभी प्रयत्न चोलों ने विफल कर दिये।

प्रस्तुत अध्याय में पाण्ड्यों के प्रारम्भिक उत्कर्ष और उपलब्धियों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। यह विवरण महत्त्वपूर्ण होते हुये भी दक्षिण भारत के समग्र इतिहास के संदर्भ में एकाङ्गी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महान् पाण्ड्य राजाओं ने अपने शासन काल में दक्षिण भारत की राजनीतिक गतिविधि को काफी नियन्त्रित किया, किन्तु दक्षिण भारत की राजनीति के वे अकेले ही सूत्रधार नहीं रहे। प्रथम साम्राज्य के अन्तर्गत सातवीं शती से दशवीं शती के पूर्वार्द्ध का समय आता है। इसी अवधि में पल्लवों का भी चूड़ान्त विकास हुआ। वस्तुतः विजयालय चोल के उदय के पूर्व के दक्षिण भारतीय इतिहास और राजनीति के वास्तविक नियामक पाण्ड्य ही नहीं पल्लव भी थे। साथ ही दक्षिणापथ की कुछ शक्तियाँ यथा वातापी के चालुक्य और मान्यखेट के राष्ट्रकूट भी दक्षिण भारत की राजनीति को प्रभावित और नियन्त्रित करती रहीं। अगले अध्याय में पल्लवों के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय दक्षिणापथ के चालुक्य और राष्ट्रकूटों की राजनीतिक गतिविधि की यथा-संदर्भ विवेचना की जायगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ६

महान् पल्लव और उनकी परम्परा

सिंहविष्णु से महान् पल्लवों की परम्परा का प्रारम्भ हुआ। कशाकुडी दानपत्र और वेलूरपाल्यम् अभिलेख से महान् पल्लवों की वंशपरम्परा का क्रम स्पष्ट होता है, जो इस प्रकार है :—

- नन्दिवर्मन्
  - + सिंहविष्णु
    - + महेन्द्रवर्मन् प्रथम
      - + नरसिंहवर्मन् प्रथम
        - + महेन्द्रवर्मन् द्वितीय
        - + परमेश्वरवर्मन् प्रथम
          - + नरसिंहवर्मन् द्वितीय
            - + परमेश्वरवर्मन् द्वितीय
            - महेन्द्रवर्मन् तृतीय
  - भीमवर्मन्
    - बुधवर्मन्
      - आदित्यवर्मन्
        - गोविन्दवर्मन्
          - हिरण्यवर्मन्
            - + नन्दिवर्मन् द्वितीय
              - + दन्तिवर्मन्
                - + नन्दिवर्मन् तृतीय
                  - + नृपतुङ्गवर्मन्
                    - + अपराजित

सिंहविष्णु के पूर्व पल्लव साम्राज्य का अधिष्ठाता सिंहवर्मन् था। सिंहवर्मन् (ल० ५५०–५७५ ई०) के राजत्व और शासन के विषय में कोई जानकारी नहीं है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में कलभ्र संक्रान्ति का सिंहवर्मन् भी भुक्तभोगी था। सिंहवर्मन् के बाद काञ्ची पर सिंहविष्णु और उसके उत्तराधिकारियों का

+ चिह्नांकित का राजत्व प्रमाणित है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दायित्व हुआ। ऐसी स्थिति परमेश्वरवर्मन् द्वितीय के शासन काल (७२२-७३० ई०) तक बनी रही। इस बीच भीमवर्मन् तथा उसके उत्तराधिकारियों का महत्त्व गौण था और वे सामन्त शासक के ही रूप में काञ्ची के मुख्य पल्लवों का अनुगमन करते रहे। इसके बाद पल्लव राजत्व भीमवर्मन् के पांचवें उत्तराधिकारी नन्दिवर्मन् द्वितीय के आधीन हो गया।

सिंहविष्णु (ल० ५७५—६०० ई०) के शासनकाल में कई राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। पल्लवों का अधिकारक्षेत्र दक्षिण की ओर बढ़ने लगा और चोलमण्डलम् में घुसपैठ करना साम्राज्यवादी पल्लवों की स्थायी राजनीति हो गयी। इसके सांस्कृतिक संरक्षणत्व में वैष्णव और शैव मतों का प्रचार बढ़ा तथा कला के क्षेत्र में नूतन उद्भावनाओं का श्रीगणेश हुआ। इसी के शासनकाल में तमिल जनपद में मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण में सर्वप्रथम प्रस्तर का उपयोग किया गया।

राजनीतिक उपलब्धियों की दृष्टि से वेलूरपालयम् अभिलेख की दशम पंक्ति का अध्ययन उपयोगी है। इससे पता चलता है कि अवनिसिंह सिंहविष्णु बड़ा प्रतापी था और उसने चोलों के जनपद को छीनकर कावेरी की घाटी को पल्लव साम्राज्य के अन्तर्गत किया था। इसके राज्य के अन्तर्गत कावेरी का मुहाना भी शामिल था। पल्लव साम्राज्य के इस विस्तार में उसको जिन विपक्षियों का सामना करना पड़ा वे कलभ्र, मालव, चोल, पाण्ड्य और सिंहल थे। यह कहना कठिन है कि इस संदर्भ में पाण्ड्य और सिंहल की गणना करना कितना ऐतिहासिक है। मालव की तो पहचान भी कठिन है। चोलों से तो सिंहविष्णु की कशमकश सम्भव है किन्तु पाण्ड्यों का भी यही अभ्युदय का समय है और वे भी कडुङ्गोन् के नेतृत्व में शक्ति संग्रह कर रहे थे।

सिंहविष्णु द्वारा प्रकाशित एक भी अभिलेख अभी तक उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसके शासनकाल के दो अभिलेख उपलब्ध हैं, जिनके प्राप्ति-स्थान के आधार पर विद्वानों की धारणा है कि उसका साम्राज्य उसके समय में चतुर्वेदि मङ्गलम् से कञ्जनूर अर्थात् लगभग मद्रास से कुम्भकोणम् तक फैला हुआ था।

सिंहविष्णु वैष्णव था और कलानुरागी था। आदिवराह स्वामी मन्दिर (मामल्लपुरम्) में इसकी स्वयं की एक प्रतिमा मिली है, जो इसकी दो रानियों का भी अङ्कन करती है। यह मन्दिर इसी के शासनकाल की कृति है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन् था जिसने लगभग ६००–६३० ई० तक शासन किया। इसकी अनेक उपाधियां और विरुद थे। महेन्द्रविक्रम इसका दूसरा नाम था। अन्य विरुदों में मत्तविलास, गुणभार, शत्रुमल्ल, ललिताङ्कुर, अवनिभाजन और विचित्रचित्त भी प्रसिद्ध हैं।

महेन्द्रवर्मन् के शासनकाल में चतुर्दिक समृद्धि हुई। संस्कृत को विशेष प्रोत्साहन मिला। भारवि इसी के शासनकाल में हुये। अप्पर के द्वारा शैव धर्म को विशेष प्रोत्साहन मिला। उत्कीर्ण एकाश्मक मन्दिरों की परम्परा उसी के शासनकाल में पल्लवित हुई। महेन्द्रवर्मा के सुशासन ने सांस्कृतिक और कलात्मक विकास के लिये सुयोग उत्पन्न किया। साम्राज्य का दिनानुदिन विस्तार होता रहा।

राजनीतिक दृष्टि से इसके शासन में वास्तविक साम्राज्यवाद की नींव पड़ी। चोलों का साम्राज्य उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। इसी के शासन-काल में उत्तर में चालुक्य और दक्षिण में पाण्ड्यों का उद्भव और उत्कर्ष हो रहा था। फलतः महेन्द्रवर्मन् की विस्तारवादी नीति का अनिवार्य संघर्ष पाण्ड्यों और चालुक्यों की साम्राज्यवादिता से हुआ। इसके द्वारा पाण्ड्यों और चालुक्यों के प्रति प्रतिद्वन्दिता की जिस नीति का जन्म हुआ, वह अपरिहार्य रूप से महान् पल्लवों की परम्परागत नीति बनी रही।

पल्लव-चालुक्य संघर्ष के सूत्रपात का कारण सर्वथा राजनीतिक है। एहोल के लेख में लिखा है कि चालुक्यों के उत्कर्ष के प्रति पल्लव जन्मजात द्वेषी थे। महेन्द्रवर्मन् का प्रतिद्वन्दी बहुमान्य धारणा के अनुसार पुलकेशिन् द्वितीय था। पुलकेशिन् द्वितीय ने अपने दिग्विजय के संदर्भ में कदम्बों को उच्छिन्न करके वेंगी पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कदम्बवंशीय नृपों का पल्लव नरेशों से अच्छा सम्बन्ध था और पल्लवों की संरक्षकता में कदम्बवंश एक स्वतन्त्र राज्य था। वेङ्गी पर चालुक्यों का अधिकार होना सहज ही पल्लवों के लिए एक खतरा भी था क्योंकि पल्लवों के अधीनस्थ कदम्बों द्वारा पल्लवों के शत्रु गंगवंशीय राजाओं पर अङ्कुश रखना सम्भव रहा करता था। कदम्बों के पराभव से उस दिशा में चालुक्य और गंग दो प्रबल विपक्षी खड़े हो गये थे। इस सहज शत्रुता के कारण महेन्द्रवर्मन् ने अग्रगामी पुलकेशिन् द्वितीय का विरोध किया। किन्तु प्रथम संघर्ष में महेन्द्रवर्मन् को सफलता नहीं मिली। ऐहोल के विवरण के अनुसार महेन्द्रवर्मन् को विवश और पराजित होकर काञ्ची के परकोटे में छिप जाना पड़ा। पिछली हार से पल्लव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साम्राज्य का धुर उत्तरी हिस्सा यद्यपि गंवा देना पड़ा किन्तु महेन्द्रवर्मन् अपनी स्थिति शीघ्र ही सुधारने में समर्थ रहा। कशकुडी दानपत्र से पता चलता है कि महेन्द्रवर्मन् ने अपने 'प्रमुख शत्रु' को पल्लल्लूर (काञ्ची के पास) के युद्ध में पराजित किया। यह 'प्रमुख शत्रु' पुलकेशिन् द्वितीय ही था, यद्यपि कुछ विद्वान् इसे गंगवंशीय कोई नृप मानते हैं। ऐसे विद्वानों के मत से पुलकेशिन् द्वितीय का प्रतिद्वन्द्वी महेन्द्रवर्मन् नहीं, अपितु उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् था।

महेन्द्रवर्मन् ने इस प्रकार काञ्ची और कावेरी की घाटी की स्थिति सुरक्षित कर ली, और यह प्रदेश चालुक्यों के अधिकार में न जा सका। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस घटना से चालुक्यों और पल्लवों में कशमकश बढ़ गया। यद्यपि चालुक्य नरेश पुलकेशिन् द्वितीय महेन्द्रवर्मन् के शासनकाल में पल्लल्लूर की पराजय का प्रतिकार न कर सका, किन्तु पुलकेशिन् द्वितीय दक्षिण भारत में अपनी राजनीतिक स्थिति दृढ़ करने में बराबर तत्पर रहा। इस उद्देश्य से, जैसा कि एहोल अभिलेख से ही स्पष्ट है, पुलकेशिन् द्वितीय ने पल्लवों के विपक्षी पाण्ड्य, चोल और केरल राज्यों से मैत्री सम्बन्ध की स्थापना की थी।

इस प्रकार महेन्द्रवर्मन् की राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ रही। उसके शासनकाल में कावेरी के दक्षिण में भी पल्लव सीमा का विस्तार हुआ। प्रतिभा का धनी महेन्द्रवर्मन् न केवल राजनीति और समरनीति में कुशल और संस्कृति का संरक्षक था, अपितु वह स्वयं भी कलाकार और साहित्यिक था। 'मत्तविलास प्रहसन' इसकी ही रचना है। यह स्वयं चित्रकार भी था सम्भवतः इसीलिए इसका विरुद् 'चित्रकारप्पुलि' बड़ा ही लोकप्रिय था। बहुमुखी प्रतिभा के कारण ही, सम्भवतः यह 'विचित्रचित्त' कहा जाता था। पहले यह जैनधर्मावलम्बी था किन्तु बाद को इसकी इस धर्म के प्रति अनास्था हो गयी और यह परम्परागत वैष्णव और शैवधर्मावलम्बी हो गया। वैष्णव और शैव धर्म के प्रति इसके मन में समान आदर था। मण्डगपत्तु (दक्षिणी अर्काट में) अभिलेख में लिखा है कि उसने एकाश्मक मन्दिरों का निर्माण ब्रह्मा, ईश्वर और विष्णु के प्रति किया। सार्वजनिक निर्माण के प्रति भी इसकी रुचि थी। महेन्द्रवाड़ी में इसने एक बड़े तड़ाग का निर्माण कराया था।

इसका उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन् प्रथम अपने पिता से भी बढ़-चढ़कर प्रतिभाशाली था और इसने अपने पिता की राजनीतिक और सांस्कृतिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परम्पराओं का निर्वाह सुयोग्यतापूर्वक किया। इसमें असाधारण पौरुष था और इस दृष्टि से इसका उपनाम 'महामल्ल' सर्वथा उचित था। अपने पौरुष के द्वारा इसने अपने समस्त प्रतिद्वन्दियों की गतिविधि को नियन्त्रित किया और अपने शासन अवधि में (ल० ६३० ई०–६६८ ई०) पल्लव साम्राज्य को दक्षिण भारत की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रदर्शित किया।

परमेश्वरवर्मन् प्रथम के शासनकाल में प्रकाशित कूरम दानपत्रों में नरसिंहवर्मन् और पुलकेशिन् द्वितीय के बीच की राजनीतिक स्थिति का अच्छा विवरण है। इसके अनुसार नरसिंहवर्मन् प्रथम ने पुलकेशिन् द्वितीय को, जो कभी 'उत्तरापथनाथ' हर्ष को हरा चुका था और जिसके द्वारा उसका पिता महेन्द्रवर्मा भी एक बार मुंह की खा चुका था, लगातार पेरियाड, मणिमङ्गलम् और शूरमार के युद्धों में परास्त किया। मणिमङ्गलम् की भौगोलिक स्थिति काञ्ची के पास ही ठहरायी जाती है, अतएव ऐसा अनुमान होता है कि महेन्द्र-वर्मन् के मृत्युपरान्त अपने पूर्व पराजय की प्रतिक्रिया स्वरूप पुलकेशिन् द्वितीय ने, जिसे नरसिंहवर्मन् के पौरुष का कोई अनुमान नहीं था, काञ्ची को आक्रान्त किया, किन्तु स्वयं ही पराजित हो गया। उसके आक्रमण और पराजय की भीषण प्रतिक्रिया भी हुई। पल्लव नरेश ने शीघ्र ही एक प्रतिक्रियात्मक अभियान की योजना बनायी और इसके कार्यान्वयन के लिए अपने सेनापति शिरुत्तोण्ड, (जो परनजोति के नाम से भी प्रसिद्ध है,) के नेतृत्व में एक सेना वातापी विजय के लिये भेजी। चालुक्यों की राजजानी वातापी को अधिकृत करके शिरुत्तोण्ड तथा उसके सैनिक काञ्ची लौट आये और अपने साथ चालुक्यों का प्रभूत वैभव भी अपहृत कर लाये। 'पेरियपुराणम्' और वेलूरपाल्यम् अभिलेख के अनुसार इस विजय की स्मृति में वहां एक कीर्तिस्तम्भ भी स्थापित किया गया। इस तथ्य की प्रामाणिकता वातापी से ही प्राप्त एक खण्डित अभिलेख से भी सिद्ध हैं। यह अभिलेख, नरसिंहवर्मन् के सेनापति शिरुत्तोण्ड के द्वारा वातापी के मध्य में स्थित मल्लिकार्जुन देवालय के एक प्रस्तर पर उत्कीर्ण कराया गया था।

पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम ने इस विजय (६४२ ई०) के बाद 'वातापीकोण्ड' (वातापी का अपहर्त्ता) की उपाधि धारण की। उसका यह विजय चालुक्यों के स्थायी पराभव का कारण बन गया। इस घटना के बाद पुलकेशिन् द्वितीय मर गया। उसके उत्तराधिकारियों की स्थिति निर्बल थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलतः अगले तेरह वर्षों तक चालुक्यों का दक्षिणी विजित पल्लव साम्राज्य का अङ्ग बन गया। पल्लवों की धाक सारे दक्षिणापथ और तमिल जनपद के राजाओं पर छा गयी, और नरसिंहवर्मन् प्रथम निर्बाध रूप से समस्त दक्षिण भारत के अन्य राजाओं पर अपना प्रभाव स्थापित करने में समर्थ हुआ।

जब नरसिंहवर्मन् प्रथम की दक्षिण भारत में स्थिति दृढ़ हो गयी तो उसकी दृष्टि सागर पार सिंहल की राजनीति पर भी गयी। 'महावंश' के अनुसार लंका का राजा मानवर्मा (मानवम्मा) राजच्युत हो गया था और पुनः राजत्व प्राप्ति की दृष्टि से काञ्ची चला आया था। नरसिंहवर्मन् के दरबार में रहकर वह उसका कृपापात्र और विश्वासपात्र बन गया। चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध में इसने नरसिंहवर्मा का सक्रिय सहयोग किया था और उसके युद्धों में भाग लिया था। प्रतिफल स्वरूप नरसिंहवर्मन् ने सैनिक सहायता के साथ उसे सिंहल भेजा, जहां वह पुनः राजत्व प्राप्त करने में समर्थ हुआ। किन्तु मानवर्मा की सफलता स्थायी न हो सकी क्योंकि ज्यों ही मानवर्मा को सिंहल छोड़ पल्लवसेना काञ्ची वापस आयी, मानवर्मा पुनः सिंहल से भगा दिया गया। इस पर नरसिंहवर्मन् प्रथम ने पुनः एक सेना सिंहल को भेजी। 'महावंश' के विवरण के अनुसार यह सेना, पूर्व सेना की अपेक्षा महती थी और विशेष तैयारी के साथ भेजी गयी थी। वह स्वयं भी सेना के साथ महाबलीपुरम् तक गया था, जहां से उसकी सेना नौका द्वारा सिंहल पहुँची थी। इससे यह विश्वास होता है कि नरसिंहवर्मन् के पास नौसेना भी सुदृढ़ थी। महाबलीपुरम् उसके राज्य का उत्तम पत्तन था, जिससे लंका के लिये नियमित रूप से जहाज छूटते थे। हुयेनसंग के अनुसार यह समुद्रपत्तन बीस मील विस्तीर्ण था।

नरसिंहवर्मन् का द्वितीय सिंहल अभियान सर्वथा सफल रहा और इस आक्रमण से न केवल मानवर्मा का सिंहल में राजत्व प्रतिष्ठित हो गया अपितु, नरसिंहवर्मन् प्रथम की 'महामल्लता' भी स्वतः प्रमाणित हो गयी। नरसिंहवर्मन् के सिंहल-विजय से कशकुडी अभिलेख का कवि इतना प्रभावित हुआ कि उसने नरसिंहवर्मन् की तुलना लंकाविजयी राम से कर डाली।

नरसिंहवर्मन् का वास्तुप्रेम प्रसिद्ध है। महाबलीपुरम् की कलात्मक प्रक्रिया को इसने उत्तेजित किया। स्तम्भ रचना में तो इसके नाम की (मामल्ल) एक शैली ही चल पड़ी। सिंहस्तम्भ की मामल्ल-परम्परा न केवल उसके जीवनकाल ही में प्रचलित रही, अपितु शैली और रचना-भेद से समस्त दक्षिणभारत के मंदिर निर्माण के महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में लोकप्रिय हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेङ्कैया तो महाबलीपुरम् के रथों की रचना इसी के शासनकाल की देन मानते हैं और यह भी कहते हैं कि महाबलीपुरम् पत्तन की स्थापना भी इसी ने की होगी। इसके शासनकाल में हुयेनसंग ने दक्षिणभारत की यात्रा की थी और काञ्ची में बहुत दिनों तक ठहरा था। उसके विवरण में काञ्ची और महाबलीपुरम् की समृद्धि का अच्छा वर्णन है।

इस प्रकार पल्लव समृद्धि को चूडान्त विकास दे कर महामल्ल नरसिंहवर्मन् प्रथम ६६८ ई० के लगभग मर गया। इसका उत्तराधिकार इसी के पुत्र महेन्द्रवर्मन् द्वितीय को मिला। इसके शासनकाल में चतुर्दिक शान्ति रही और बाहरी शत्रुओं से भी पल्लव साम्राज्य निरापद रहा। इसके शासनकाल में होने वाले किसी भी युद्ध की कोई जानकारी नहीं है। कूरम दानपत्र से सूचना मिलती है कि 'चतुर्दिक सुख-शान्ति और समृद्धि के वातावरण में महेन्द्रवर्मन द्वितीय अपने सुशासन से 'वर्णाश्रम धर्म की सुरक्षा करता रहा'। इसकी शासनावधि थोड़ी थी। बहुमान्य गणना के अनुसार इसका शासनकाल ६६८ ई०–६७० ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

परमेश्वरवर्मन् प्रथम, महेन्द्रवर्मन् द्वितीय के संक्षिप्त राजत्व के बाद ६७० ई० के लगभग पल्लव साम्राज्य का स्वामी बना। शासन के प्रथम तीन वर्ष तो शान्ति से बीते किन्तु चौथे वर्ष पल्लवों और वातापी के चालुक्यों में पुनः युद्ध छिड़ गया। गदवल दानपत्र से पता चलता है कि परमेश्वरवर्मन् प्रथम का समकालीन चालुक्य प्रतिद्वन्द्वी विक्रमादित्य प्रथम था। इस दानपत्र के विवरण के अनुसार विक्रमादित्य प्रथम ने काञ्ची को आक्रान्त किया और ईश्वर पोतराज को पराजित कर महामल्ल परिवार को नष्ट किया। उसका युद्ध-शिविर कावेरी के दक्षिणी तट पर उरगपुर नामक स्थान में स्थित था और यह दानपत्र इसी शिविर से वैशाख पूर्णिमा ५९६ शक संवत्, (विक्रमादित्य प्रथम का बीसवां राजत्व वर्ष) में प्रकाशित किया गया था। कीलहार्न की गणना के अनुसार दानपत्र में दी गयी तिथि बृहस्पतिवार, २५ अप्रैल ६७४ ई० ठहरती है।

यह कहना कठिन है कि पल्लवों के विरुद्ध विक्रमादित्य प्रथम की सामरिक उपलब्धि की वास्तविकता क्या थी। किन्तु उरगपुर (उरैयूर) तक चूंकि विक्रमादित्य प्रथम का पहुंचना प्रमाणित है अतएव यह कहा जा सकता है कि विक्रमादित्य अपने पूर्वज पुलकेशिन् द्वितीय के अपमान और पराजय का प्रतिशोध करने में समर्थ रहा। किन्तु इसमें सत्यांश का अभाव है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विक्रमादित्य महामल्ल परिवार को मिटाने में समर्थ रहा। महामल्ल की वंश परम्परा इस घटना के बाद न केवल अक्षुण्य रही अपितु, जैसा कि कूरम दानपत्र से व्यक्त है, परमेश्वरवर्मन् प्रथम अपने पराजय का प्रतिशोध करने में भी समर्थ रहा। परमेश्वरवर्मन् के कूरम दानपत्र में उत्कीर्ण है कि परमेश्वर-वर्मन द्वारा विक्रमादित्य के लाखों सैनिक पराजित हुये और स्वयं विक्रमादित्य भी चीथड़े लपेट कर समरभूमि से भागा। वेलूरपालयम् अभिलेख में भी परमेश्वरवर्मा का एक संकेत है। इसमें लिखा है कि जैसे सूर्य कुहरों का विनाश करता है, उसी प्रकार परमेश्वरवर्मन् ने अपने शत्रुओं का विनाश किया। उदयेन्दिरम् दानपत्र के अनुसार परमेश्वरवर्मन् प्रथम और विक्रमादित्य प्रथम का यह निर्णायक युद्ध पेरुवडनल्लूर में हुआ, जिसकी स्थिति उरगपुरम् के आस-पास ही थी। त्रिचनापल्ली जिले के लालगुडी तालुक में आज भी यह स्थान इसी नाम से जाना जाता है।

यह शैव था और शिव की उपासना के लिए इसके नाम से सम्पूर्ण राज्य में अनेक शिव-मंदिर बने। मामल्लपुरम् का गणेश मंदिर इसीके द्वारा निर्मित हुआ। इसकी भी अनेक उपाधियाँ यथा—'अत्यन्तकाम', 'चित्रमाय', 'गुणभाजन', 'श्रीभर', 'रणञ्जय' आदि प्रसिद्ध थीं। कूरम दानपत्र में इसे 'विद्याविनीत' भी कहा गया है।

इसके उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन् द्वितीय का शासनकाल (ल० ६९५–७२२) युद्ध आदि से निरापद रहा। अतएव इस अवधि में पल्लव नरेश को सांस्कृतिक समृद्धि की अभिवृद्धि का अवसर मिला। इसने अपने उपनाम 'राजसिंह' से काञ्ची में कैलाशनाथ मन्दिर का निर्माण कराया। उस मन्दिर को 'राजसिंहेश्वर' का मन्दिर भी कहते हैं। इसी के द्वारा काञ्ची का 'ऐरावतेश्वर' का मन्दिर भी निर्मित हुआ। महाबलीपुरम् का 'शोर टेम्पुल' भी इसी का निर्माण है। साहित्य का भी यह बहुत बड़ा पोषक था। दण्डिन् इसके समकालीन थे। भास के नाटकों की रचना का समय भी कुछ विद्वानों द्वारा इसी का शासनकाल निर्धारित किया जाता है।

इसके शासनकाल की समृद्धि ने पल्लव शासन को दूर-दूर विख्यात किया। इसका दौत्य सम्बन्ध चीन से भी स्थापित था।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय के विरुद उसके व्यक्तिगत गुण और रुचि तथा लोकप्रियता पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इसके विरुदों की संख्या भी अधिक है। अकेले कैलाशनाथ मन्दिर पर इसके २५० से भी अधिक विरुद अंकित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परमेश्वरवर्मन् द्वितीय, जो नरसिंहवर्मन् द्वितीय का पुत्र और उत्तराधिकारी था, सिंहविष्णु की परम्परा का अन्तिम शासक था। इसका शासनकाल संक्षिप्त (७२२–७३० ई०) था जिस बीच इसने 'धर्मपूर्वक शासन किया और कलि-दोषों से शासन का परिहार किया'। ऐसा अनुमान होता है कि इसके शासन के अन्तिम वर्षों में पल्लवों और चालुक्यों में पुनः विद्वेष उत्पन्न हो गया। युवराज विक्रमादित्य द्वितीय (चालुक्य) ने परमेश्वरवर्मन् द्वितीय को आक्रान्त किया। इस आक्रमण में चालुक्यों का मित्रराष्ट्र गंगवंश उनकी ओर से पल्लवों पर चढ़ दौड़ा था। गंगवंशीय शीरिपुरुष का पुत्र एरेयप्प ही गंग-सेना का नेतृत्व कर रहा था। इसी के द्वारा पराजित होकर परमेश्वरवर्मन् द्वितीय युद्ध में मारा गया। गंगराज ने पल्लवों का छत्र छीनकर 'पेरमाण्डी' की उपाधि धारण की।

परमेश्वरवर्मन् द्वितीय की सहसा मृत्यु से पल्लवों का राजसिंहासन रिक्त हो गया और काञ्ची की राजनीति तथा प्रशासनिक स्थिति में संक्रान्ति की आशंका व्यक्त की गयी। परमेश्वरवर्मन् द्वितीय का पुत्र चित्रमाय था। किन्तु उसे राज्याधिकार प्राप्त न हो सका। परमेश्वरवर्मन् द्वितीय के बाद शासनाधिकार सिंहविष्णु के अनुज भीमवर्मन् के उत्तराधिकारियों में चला गया। कशकुडी और कोरंङ्गुडी दानपत्रों से पता चलता है कि चित्रमाय को राजत्व न मिलकर परमेश्वरवर्मन् द्वितीय के बाद हिरण्य प्रथम के पुत्र नन्दिवर्मन् द्वितीय को पल्लव शासन का उत्तराधिकार मिला। अभिलेखीय अथवा अन्य किसी साक्ष्य से ऐसी कोई सूचना नहीं प्राप्त होती कि नन्दिवर्मन् द्वितीय ने बलात् राजत्व प्राप्त किया था। उसके विपरीत कशकुडी दानपत्र में इस तथ्य का उल्लेख है कि नन्दिवर्मन द्वितीय का पल्लव राजत्व के लिए 'प्रजा द्वारा वरण किया गया था'।

अभिलेखीय प्रमाण के अनुसार परमेश्वरवर्मन् की मृत्यु से जो राजनीतिक संक्रान्ति आसन्न थी, उसको दृष्टि में रखकर परमेश्वरवर्मन् द्वितीय के सामन्तों, मन्त्रियों, ब्राह्मणों और व्यापारियों द्वारा संगठित एक दौत्य मण्डल ने हिरण्यवर्मन् प्रथम, जो भीमवर्मा की परम्परा का छठा सामन्त नृप था, के पास जाकर काञ्ची के राजपीठ के लिये एक सुयोग्य 'राजा' की याचना की। इसके लिये उसने अपने सामन्तों और पुत्रों से परामर्श किया और अन्त में काञ्ची के सिंहासन के लिये अपने द्वादसवर्षीय पुत्र पल्लवमल्ल को भेजने में समर्थ हुआ। जब पल्लवमल्ल इस उद्देश्य से काञ्ची पहुंचा तो दरबारी, सामन्तों और वणिक्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ग ने उसका स्वागत किया और उसका अभिषेक कराया। अभिषेकोपरान्त वह पल्लवमल्ल नन्दिवर्मन् द्वितीय के नाम से शासन करके लगा।'

उपर्युक्त विवरण से यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि पल्लवमल्ल नन्दिवर्मन् को यद्यपि काञ्ची का राजत्व प्रजा और अधिकारियों के समर्थन से मिला था किन्तु इसकी राजनीतिक प्रतिक्रिया हुये बिना भी न रही। नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल का लम्बा शासनकाल था, (७३० ई० से लगभग ८०० ई० के बीच) किन्तु वह शान्तिपूर्वक न बीत सका। चित्रमाय, जो कि राजत्व से वञ्चित कर दिया गया था, पल्लव वंश के राजनीतिक प्रतिद्वन्दियों से जा मिला और उनके सहयोग से नन्दिवर्मन् को दीर्घकालीन युद्धों में फंसाये रखा। नन्दिवर्मन के प्रमुख प्रतिद्वन्दी पाण्ड्य, गंग और चालुक्य थे। पाण्ड्य वंश से, जहाँ तक वैमनस्य का प्रश्न है, सिंहविष्णु के समय से चला आ रहा था। किन्तु वास्तविक संघर्ष और युद्ध की परिस्थिति नन्दिवर्मन् द्वितीय के राज्यारोहण द्वारा प्रस्तुत हुई। नन्दिवर्मन् प्रथम का पिता हिरण्यवर्मन् प्रथम कोरङ्गुडी अभिलेख में स्वतन्त्र शासक कहा गया है। उसे काञ्ची का स्वतन्त्र शासक भी बताया गया है। किन्तु वेलूरपाल्यम् और बाहूर अभिलेखों में काञ्ची के स्वतन्त्र शासकों के सन्दर्भ में उसका नाम भी नहीं लिया गया। अतएव ऐसे अनुमान का पुष्ट आधार प्रतीत होता है कि हिरण्यवर्मन् परमेश्वरवर्मन् द्वितीय के आधीन एक प्रभावशाली सामन्त मात्र था, जिसे सम्भवतः पल्लवों के किसी प्रान्त का युवराज अथवा इसी के समकक्ष किसी स्थिति से स्वतन्त्र शासन का अधिकार प्राप्त था। परमेश्वरवर्मन् द्वितीय के मरने पर जब हिरण्यवर्मन् प्रथम ने अपना प्रभाव अपेक्षाकृत व्यापक कर लिया और सामन्त वर्ग को अपने पक्ष में करके परमेश्वरवर्मन् द्वितीन के बाद अपने पुत्र के लिए काञ्ची का राजपीठ, सुरक्षित कर लिया। किन्तु यह परिवर्तन सर्वथा सर्वसम्मत न था, और प्रतिद्वन्दियों की दृष्टि में यह एक सुअवसर था, जिसमें पाण्ड्यादि नृप पल्लवों के प्रति अपनी परम्परागत शत्रुता और विद्वेष को व्यक्त कर पाते। उनका अनुमान था कि सिंहविष्णु की आनुवंशिक परम्परा का हिरण्यवर्मन् प्रथम और नन्दिवर्मन् द्वितीय द्वारा उल्लंघन लोकप्रिय न होगा और नवागत राजवंश का उन्मूलन करके तथा परम्परागत पल्लववंश के प्रतिनिधि चित्रमाय को पुनः पल्लव राजपीठ पर प्रतिष्ठित करके वे अपना प्रभाव पल्लव राजनीति पर स्थायी रूप से जमा सकेंगे। इसी अनुमान और उद्देश्य से समकालीन पाण्ड्य नृप राजसिंह प्रथम ने चित्रमाय को शरण दी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजसिंह प्रथम ने भी तत्काल ही (७३० ई०) पाण्ड्यवंश का अधिपतित्व प्राप्त किया था, अतएव कुछ समय यह भी अपने आन्तरिक प्रशासन तथा परम्परागत युद्धों की स्थिति के संभालने में व्यस्त रहा। किन्तु अनुमानतः ७४० ई० के कुछ पूर्व ही राजसिंह प्रथम की स्थिति अनुकूल हो गयी और उसने पल्लवों के शत्रुओं को संगठित करके नन्दिवर्मन् द्वितीय को आक्रान्त किया। वेल्वीकुडी दानपत्र के अनुसार पल्लवों के विरुद्ध राजसिंह प्रथम को जो सफलता मिली उसका उल्लेख हम पहले (पृ० ६६-६७) कर चुके हैं। राजसिंह ने नन्दिवर्मन् द्वितीय को नन्दिपुर दुर्ग में (कुम्भकोणम् के पास) जब वह वहां विश्राम कर रहा था, कैद कर लिया और दुर्ग भी अपने आधीन कर लिया। उदयेन्दिरम् दानपत्र में नन्दिवर्मन् द्वितीय के इस दुर्भाग्य का उल्लेख है। इसी साक्ष्य से यह भी सूचना मिलती है कि नन्दिवर्मन् का शीघ्र ही नन्दिपुर दुर्ग से उद्धार भी हो गया। उसके एक सामन्त उदयचन्द्र ने (जो वेगावती घाटी का सामन्त था) उसके उद्धार की योजना बनायी थी। अपनी सेना के साथ द्रमिल (तमिल) सामरिक संघ को विच्छिन्न कर दिया, जिसकी आयोजना उसने चित्रमाय के हित के लिये राजसिंह के नेतृत्व में की थी। चित्रमाय स्वयं भी इसी संघर्ष में मारा गया और इस प्रकार नन्दिवर्मन् का उद्धार हुआ। उदयचन्द्र ने द्रमिल संघ से कई स्थानों पर युद्ध किये थे, जिनमें कुछ के नाम निम्बवन, चूतवन, शंकरग्राम, नेल्लूर, नेल्वेली, शूरवलुन्दूर, मयैकुडी आदि ज्ञात हैं। ये सभी स्थान दूर-दूर थे जो संकेत करते हैं कि चित्रमाय और राजसिंह की प्रेरणा से पल्लवों के प्रतिद्वन्द्वी सभी समकालीन राजवंशों ने नन्दिवर्मन् के विरुद्ध कई मोर्चे खोल डाले थे। नेल्लोर की पहचान आधुनिक नेलौर से की जाती है। नेल्वेली की पहचान हूल्स ने तिन्नवेली से की है किन्तु इनकी स्थिति किसी तेलगु जनपद में थी। शबर गंजाम और वैजवाड़ा के आस-पास का कोई राजघराना था। विष्णुराज जो इस संघर्ष में उदयचन्द्र द्वारा पराजित हुआ था, पूर्वी चालुक्य राजवंश के विष्णुवर्धन् तृतीय से तुलनीय है। यह वातापी के चालुक्य विक्रमादित्य का समकालीन था। शंकरग्राम की पहचान बृहत् शिन्नमनूर दानपत्र में आये संकरमंगयै से और मलैकुडी की वेल्वीकुडी दानपत्र के मल्लीकुर्रिच्छी से की जा सकती है। यह स्थान तंजोर जिले में स्थित था। शेष स्थान अर्थात् निम्बवन, चूतवन, शूरवलुन्दूर आदि भी तञ्जोर के आस-पास ही थे। इस प्रकार एक मोर्चा तो पल्लव साम्राज्य के ठेठ दक्षिण के तमिल राजाओं द्वारा खोला गया था जिनमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाण्ड्य के अतिरिक्त चोल और चेर भी शामिल थे और दूसरा सम्भवतः पल्लव साम्राज्य के ठेठ उत्तर अर्थात् आन्ध्रपथ और आसपास के राजाओं द्वारा। इन दोनों ही मोर्चों को संभालने का श्रेय उदयचन्द्र को है क्योंकि उदयेन्दिरम् दानपत्र में एक ही प्रसंग में सभी युद्धों का उल्लेख है।

चालुक्य नृप विक्रमादित्य द्वितीय और राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने भी, सम्भवतः पाण्ड्यों की ही प्रेरणा से, अवसर का लाभ उठाना चाहा था।

विक्रमादित्य के केन्दूर दानपत्र में उल्लेख है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने अपने 'प्रकृति-अमित्र' के विरुद्ध एक महती सेना के साथ 'तुण्डाक विषय' को आक्रान्त किया और सहज ही नन्दिपोतवर्मन् (= नन्दिवर्मन द्वितीय) को काञ्ची से भगा दिया। विक्रमादित्य ने अपनी परम्परागत नीति के विरुद्ध काञ्ची और पल्लव जनपद को क्षतिग्रस्त नहीं किया, अपितु राजराजेश्वर मन्दिर तथा नन्दिवर्मन द्वारा संरक्षित मन्दिर को प्रभूत दान के साथ संरक्षकता दी। ब्राह्मणों और दरिद्रों को भी दानादि से सन्तुष्ट किया।

इस दानपत्र में इस बात का भी उल्लेख है कि नन्दिवर्मण इस समय भी पाण्ड्य चोल, केरल और कलभ्र आदि राजाओं से संत्रस्त हो चुका था। इस संकेत से जहां यह अनुमान सरल है कि इस समय तक पाण्ड्यदि तमिल राजाओं का संग्राम बीत चुका था, यह कहना कठिन है कि चालुक्य आक्रमण के सन्दर्भ में उदयचन्द्र के राजनीतिक और सैनिक सहयोग की स्थिति क्या थी। काञ्ची पर यह चालुक्य अभियान ७४० ई० के लगभग हुआ था। ७४० ई० के बाद कैसे नन्दिवर्मन् प्रथम ने काञ्ची को पुनः प्राप्त कर लिया, यह कहना कठिन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विक्रमादित्य केवल आक्रमण करके लौट ही नहीं गया अपितु कुछ काल तक काञ्ची का शासन करता रहा। इस अवधि में उसने अनेक दानपत्र प्रकाशित किये और पल्लवों के मन्दिर सम्बन्धी अनुदानों का न केवल उद्धार किया अपितु स्वयं भी दानादि किये। राजसिंहेश्वर मन्दिर में उपलब्ध एक कन्नड अभिलेख में, ये सभी तथ्य अङ्कित हैं।

जो भी हुआ हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि चालुक्य अभियान का प्रतिकार नन्दिवर्मन् द्वितीय द्वारा ७४० ई० के बाद शीघ्र ही कर लिया गया। उसकी स्थिति न केवल काञ्ची में अपनी सत्ता को स्थिर करने में सुदृढ़ रही अपितु वह इतना पौरुषवान् भी रहा कि पल्लववंश के परम्परागत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कतिपय शत्रुओं के विरुद्ध अभियान की आयोजना करने में भी समर्थ रहा। जिन दिनों गंगवंश का शासन शिवमार अथवा सीरिपुरुष कर रहा था, (इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि नन्दिवर्मन् द्वारा कौन सा गंगवंशीय नृप पराजित हुआ था) नन्दिवर्मन का आक्रमण गंगराज्य पर हुआ और परिणामतः गंगराज पराजित हुआ। विजय की उपलब्धि का प्रतीकात्मक वर्णन टण्डनतोट्टम् दानपत्र में है जिसके अनुसार पल्लव सामन्तों ने गंगराज (की ग्रीवा) से वह हार छीन लिया जिसमें 'उग्रोदय' नामक मणि पिरोया था।

शासन के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रकूटों की ओर से भी काञ्ची पर विपदा लादी गयी। कडबा दानपत्र का विवरण है कि राष्ट्रकूट नृप दन्तिदुर्ग (७५२–७५६ ई०) ने, पल्लव नरेश और काञ्ची को जीता था। दन्तिदुर्ग का उपनाम 'वैरमेग' भी था। तिरुमङ्गै आलवार के छन्दों में काञ्ची के शासक के रूप में 'वैरमेग' का भी नाम है। इलौर अभिलेख तथा गोविन्द तृतीय (राष्ट्रकूट) के बगूमरा दानपत्र में भी इस तथ्य का प्रमाण है कि काञ्ची पर दन्तिदुर्ग का अधिकार स्थापित हुआ था।

वेलूरपाल्यम् अभिलेख से पता चलता है कि नन्दिवर्मन् द्वितीय की पत्नी का नाम रेवा था और उससे जो पुत्र हुआ उसका नाम दन्तिवर्मन् रखा गया। इससे यह अनुमान सरल है कि विजयोपरान्त दन्तिदुर्ग नन्दिवर्मन् द्वितीय का मित्र हो गया, और अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया।

नन्दिवर्मन् के तिरसठवें राजत्व में प्रकाशित अभिलेख उपलब्ध है और इस आधार पर अनुमान किया जाता है कि उसका शासनकाल ७३० ई०–७९५ ई० तक स्थिर रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शासन के प्रारम्भ से शासन के लगभग अन्तिम वर्षों तक वह पल्लव साम्राज्य तथा अपने राजपीठ की सुरक्षा के लिये जूझता रहा और इस सन्दर्भ में उसे अपने समकालीन न केवल तमिल अपितु दक्षिणापथ और आन्ध्रपथ की राजनीतिक शक्तियों से भी टक्कर लेनी पड़ी। इस प्रकार कभी सन्धि और कभी विग्रह के वातावरण में वह असाधारण रूप से लम्बी अवधि तक पल्लववंश और राजत्व का विधाता बना रहा। इस अवधि में उसने अनेक शान्तिपूर्ण कार्य भी किये। काञ्ची का मुक्तेश्वर मन्दिर और वैकुण्ठ पेरूमल मन्दिर इसी द्वारा निर्मित हुआ। इस तरह के निर्माण उसके द्वारा साम्राज्य में अन्यत्र भी सम्पन्न हुये। यह स्वयं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैष्णव था। इसके शासनकाल में तिरुमङ्गै आलवार सन्त द्वारा वैष्णव धर्म का अच्छा प्रचार हुआ। इसके द्वारा साहित्य को भी संरक्षकता प्राप्त हुई।

उदयेन्दिरम् दानपत्र के आधार पर कुछ विद्वानों का अनुमान है कि नन्दिवर्मन् ने अश्वमेध किया था। किन्तु इस अनुमान को स्वीकार करने के लिये कुछ और प्रमाण चाहिए।

नन्दिवर्मन् द्वितीय के पुत्र दन्तिवर्मन् ने भी दीर्घकाल तक (इसका एक अभिलेख इसके इक्यावनवें राजत्व वर्ष का उपलब्ध है) शासन किया। विद्वानों ने इसकी शासनावधि ७९६ ई०–८४७ ई० के बीच निर्धारित की है।

दन्तिवर्मन् एक सद्गुणी शासक था, जिसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा प्रशस्तिकारों ने की है। वेलूरपाल्यम् अभिलेख के आधार पर यह ज्ञात है कि इसकी प्रधान पत्नी रेवा थी जो राष्ट्रकूट कन्या थी। इसकी दूसरी पत्नी कदम्बवंश की थी जिसका नाम अग्गलनिम्मती था। कदम्बवंश इस समय भी पल्लवों के आधीन एक सामान्त राज्य था। ८०४ ई० के आस-पास काञ्ची पर राष्ट्रकूट नृप गोविन्द तृतीय का आक्रमण हुआ। यह पता नहीं कि पल्लवों और राष्ट्रकूटों में इतना निकटतम वैवाहिक सम्बन्ध होते हुए भी दोनों के बीच युद्ध की स्थिति कैसे उत्पन्न हुई। आक्रमण के फलस्वरूप दन्तिवर्मन् पराजित हुआ और उसे गोविन्द तृतीय को कर देने के लिये बाध्य होना पड़ा। पाण्ड्य राजवंश से भी इसको क्षतिग्रस्त होना पड़ा। जव्यू डुब्रैल महोदय ने इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि इस अवधि में इस क्षेत्र से पल्लवों का प्रभुत्व उठ गया था और यह क्षेत्र पाण्ड्यवंश के आधीन हो गया, क्योंकि कावेरी की घाटी में दन्तिवर्मन् का सोलहवें और इक्यावनवें वर्ष के बीच (इसके बाद के राजत्व वर्षों का कोई अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है) प्रकाशित कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं है। इस अवधि में एक दर्जन अभिलेख जो कि पाण्ड्यवंशीय मारन् शडैयन् के हैं, इस क्षेत्र में उपलब्ध हैं।

दन्तिवर्मन् के एक तमिल अभिलेख से पता चलता है कि वह (जिसे इस अभिलेख के प्रशस्तिकार ने 'पल्लवकुलभूषण' कहा है) भारद्वाज गोत्र का था और इसके द्वारा त्रिप्लीक में (मद्रास के पास) पार्थसारथि मन्दिर का पुनर्निर्माण हुआ था।

दन्तिवर्मन् का उत्तराधिकार उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र नन्दिवर्मन् तृतीय को प्राप्त हुआ। यह अपने पिता से भी अधिक पराक्रमी था और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसने पाण्ड्यों को पराजित कर अपने वंश की गरिमा में अभिवृद्धि की। इसका शासनकाल लगभग ८४७ ई० और ८७२ ई० के बीच प्रतीत होता है। यह शैव था और तमिल साहित्य तथा संस्कृति का परम पोषक था। इसने प्रसिद्ध तमिल कवि और सन्त पेरुन्देवनार को आश्रय दिया था। इस कवि द्वारा 'भारतवेणवा' रचित हुआ। राष्ट्रकूटों से इसका अच्छा सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसकी पत्नी का नाम शङ्खा था, जो राष्ट्रकूट अमोघवर्ष प्रथम की कन्या थी। इसके अनेक उपनाम प्रचलित थे—यथा अवनिनारायणन्, वरतुङ्गन्, उग्रकोपन्। इन उपाधियों से उसके सामरिक सामर्थ्य और पराक्रम का संकेत मिलता है।

'नन्दिकलम्बकम्' में नन्दिवर्मन् को 'तेल्लारु संग्राम' का विजेता बताया गया है। इसकी पुष्टि नन्दिवर्मन् तृतीय के 'तेल्लाररिण्ड' उपाधि से होती है जो उसके अनेक अभिलेखों पर अंकित है। वेलूरपाल्यम् अभिलेख, जो इसके छठे राजत्व वर्ष में प्रकाशित किया गया था, उसको 'शत्रुनिहन्ता' सिद्ध करता है।

दन्तिवर्मन् के शासनकाल में पाण्ड्यनृप वरगुण ने पल्लवों के साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्त (कावेरी की घाटी) का काफी अंश हथिया लिया था और उसका प्रयास उत्तरी क्षेत्रों को भी अपहृत करने का था। इस दिशा में पाण्ड्य सैनिकों के अनेक धावे दन्तिवर्मन् के ही जीवित रहते लग चुके थे। इस प्रकार नन्दिवर्मन् को उत्तराधिकार में न केवल एक विशाल साम्राज्य मिला, अपितु पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष की दीर्घ परम्परा का बोझ भी उठाना पड़ा। किन्तु जैसा अभिलेखों और 'नन्दिकलम्बकम्' से स्पष्ट है, नन्दिवर्मन् तृतीय ने बड़ी ही सफलतापूर्वक पाण्ड्य-आक्रमणों का प्रतिकार किया। काञ्ची के पास तेल्लास नामक स्थान (उत्तरी अर्काट जिला के वाण्डेवाश तालुक में 'तेल्लास' नामक एक गांव आज भी है) पर नन्दिवर्मन् तृतीय ने पाण्ड्यों की बढ़ती सेना को रोक रखा और उसे बुरी तरह पराजित किया। यद्यपि इस विजय से ही पाण्ड्यों का पैर पल्लव जनपद से उखड़ गया किन्तु इसी तेल्लास युद्ध की परम्परा और संदर्भ में नन्दिवर्मन् ने आगे बढ़कर पाण्ड्य सैनिकों को पडयारु, वेल्लारु, नल्लारु और कुरुगोडु स्थानों में भी पराजित किया। इन युद्धों से पाण्ड्यों की हिम्मत पस्त हो गयी और नन्दिवर्मन् की धाक आजीवन के लिए समसामयिक राजनीतिक वातावरण पर छा गयी। यह युद्ध उसके शासन के छठे वर्ष के पूर्व ही हो चुका था। इसके बाद इसके किसी शत्रु ने पल्लव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साम्राज्य को आक्रान्त करने का साहस नहीं किया। गंगवंश भी इसकी आधीनता स्वीकार किये रहा। कावेरी की घाटी पर इसका पुनः अधिकार स्थापित हो गया तथा कोङ्गुदेश भी इसके अधिपतित्व को स्वीकार करने के लिए विवश हुआ। काञ्ची के अतिरिक्त इसके आधीन अन्य राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में मल्लै (महाबलीपुरम्) और मैयले (मयलपुर, मद्रास) भी प्रसिद्ध हुए।

नन्दिवर्मन् तृतीय के पुत्र नृपतुङ्ग ने भी अपने पिता की परम्परा का सफलतापूर्वक निर्वाह किया। ८७२ ई० और ९१३ ई० के बीच इसका शासन पल्लव समृद्धि का आधार था, जिस बीच उसने अपने पैत्रिक साम्राज्य को बाह्य आक्रान्ताओं से सुरक्षित रखा और साम्राज्य की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखी। बाण राजवंश इसके शासनकाल में भी एक आधीन राजवंश की स्थिति में पड़ा रहा और नृपतुङ्ग की अधीनता मानता रहा। पाण्ड्यवंश से इसकी परम्परागत शत्रुता पनपती रही; किन्तु यह पराक्रमपूर्वक समकालीन पाण्ड्य नृप को नीचा दिखाता रहा। बाहूर दानपत्र से (पाण्डेचेरी के पास) इसका प्रमाण मिलता है कि नृपतुङ्ग ने अरचित नदी को घाटी (कुंभकोणम् के पास अरशलार नदी) में पाण्ड्य प्रतिद्वन्द्वी नृप (सम्भवतः श्रीमार परचक्र कोलाहल) को पराजित किया था। किन्तु सिन्नमनूर दानपत्र के तमिल अंश में इसके विपरीत तथ्य का भी उल्लेख है। इसके अनुसार श्रीमार परचक्र कोलाहल ने उन गंग, पल्लव, चोल, कलिङ्ग और मगध के राजाओं को पराजित किया जिन्होंने कुडमुक्कू (कुम्भकोणम्) के पास उसे घेर लिया था। यह कहना कठिन है कि नृपतुङ्ग अथवा श्रीमार परचक्र कोलाहल में से किसके पक्ष की बात सही है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि नृपतुङ्ग का शासन-क्षेत्र उत्तर में गुडीमल्ल से दक्षिण में पुडुकोट्ट तक फैला हुआ था और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाण्ड्यों के आक्रमण से पल्लव साम्राज्य नृपतुङ्ग के काल में अक्षुण्ण और सुरक्षित रहा।

नृपतुङ्ग बड़ा दानी और विद्याप्रेमी भी था। अपने आठवें राजत्व वर्ष में उसने एक 'विद्यास्थान' को तीन ग्राम दान में दिये थे। इस 'विद्यास्थान' में चारो वेद, षडङ्ग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन होता था।

अपराजित इस वंश का अन्तिम राजा था। इसमें भी पौरुष और सामर्थ्य की कमी न थी और शासन के आरम्भ में इसकी ओजस्विता का प्रभाव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाण्ड्य नृप वरगुण द्वितीय पर पड़े बिना न रहा। श्रीपुरम्बियम् युद्ध में पल्लवों की पाण्ड्यों के विरुद्ध सफलता का विवेचन किया जा चुका है। (द्रष्टव्य पृ० ६६) यह युद्ध ८८० ई० में हुआ था। इस युद्ध का असाधारण महत्त्व दक्षिण भारत के इतिहास में आँका गया है। इस घटना के बाद पाण्ड्यवंश साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्दिता में काफी पिछड़ गया और सम्भवतः पल्लवों पर भी इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। श्रीपुरम्बियम् में पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष में पल्लवों का प्रधान सामन्त पृथ्वीपति प्रथम मारा जा चुका था। वस्तुतः इसी के सहयोग से पल्लवों को यह सफलता मिली थी। अगले तेरह वर्ष अपराजित के सामरिक निष्क्रियता के प्रतीत होते हैं और इस अवधि में आदित्य प्रथम (चोल), जो श्रीपुरम्बियम् के युद्ध में अपराजित का सहायक था, उसका वैरी और घातक बन गया। इस राजनीतिक परिवर्तन का कारण अज्ञात है। किन्तु इस राजनीतिक परिस्थिति का यह परिणाम सुज्ञात है कि ८९३ ई० के लगभग अपराजित के राजत्व का अस्तित्व लुप्त हो गया, महान् पल्लवों की परम्परा नष्ट हो गयी और तोण्डमण्डलम् जनपद चोल नृप आदित्य प्रथम के अधिपतित्व में समाहित हो गया।

अन्य समकालीन राजवंश

विगत प्रसंग में (पृष्ठ ५४–५८) पल्लवों के समकालीन दक्षिण भारत के राजवंशों का छठी शती के आस-पास तक का वृत्तान्त प्रस्तुत किया जा चुका है। छठी शती ईसवी के बाद प्रमुख राजनीतिक हलचलों में चालुक्य, राष्ट्रकूट और पाण्ड्य के अतिरिक्त पश्चिमी गंग, कदम्ब, बाण आदि का भी बड़ा महत्त्व रहा। इनके राजनीतिक विवरण के अतिरिक्त इस युग में तथा निकट परवर्त्ती युग में नोलम्ब, वैदुम्ब वंशों का भी संक्षिप्त इतिहास विवेचनीय है। आलुवखेड़, कोङ्गुदेश तथा केरल के राज्य भी समय-समय पर प्रकाश में आते रहे अतएव उनके सम्बन्ध में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री का भी संक्षिप्त विवेचन उपादेय है।

पश्चिमी गंग वंश

दुर्विनीत के उत्तराधिकारियों में मुशकर, श्रीविक्रम, भूविक्रम और शिवमार प्रथम के नाम ज्ञात हैं। ये सभी जैन थे और चालुक्यों के मित्र थे। पल्लवों से इनका सम्बन्ध अच्छा नहीं था। शिवमार प्रथम (६७०–७१३ ई०) के बाद भी कोई अज्ञात नृप हुआ। इसके बाद श्रीपुरुष का नाम आता है। यह पराक्रमी था और इसने बाण नृप जगदेकमल्ल अथवा मल्लदेव को परास्त किया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। इसका वैवाहिक सम्बन्ध पाण्ड्यराज राजसिंह प्रथम से भी था। इसकी पुत्री का व्याह राजसिंह प्रथम से हुआ था। पल्लवों से इसका भी वैरभाव बना रहा। पल्लवराज नन्दिवर्मन् पल्लमल्ल इसके द्वारा पराजित हुआ था। किन्तु राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम के सामने इसको मुँह की खानी पड़ी और इसे उसके साथ दीर्घकालीन युद्ध में (सम्भवतः ७६० ई० ७८८ ई० तक) फंसा रहना पड़ा।

श्रीपुरुष गंगवंश का बड़ा प्रतापी और विद्वान् शासक था। इसने 'गजशास्त्र' प्रणीत किया। इसके शासनकाल में (७२५ ई०–७८८ ई०) गंग वंश की बड़ी उन्नति हुई। इसके नाम पर गंगवाड़ी का नाम ही 'श्रीराज्य' पड़ गया। इसने अपने राज्य की राजधानी मान्यपुर (बंगलोर के पास) स्थित की। इसका प्रसिद्ध विरुद 'कोङ्गुणि राजाधिराज परमेश्वर' था।

श्रीपुरुष के चार बेटे थे—शिवमार, विजयादित्य, दुग्गमार और शिवगेल्ल। शिवमार (द्वितीय के नाम से) श्रीपुरुष का उत्तराधिकारी बना। इसके विरुद्ध दुग्गमार ने उत्तराधिकार का युद्ध छेड़ा किन्तु कुछ न कर सका। शिवमार द्वितीय ने अपने सामन्त नोलम्ब सिंगपोत की सहायता से दुग्गमार को परास्त किया। राष्ट्रकूट नृप कृष्ण प्रथम के बाद गोविन्द द्वितीय शासक हुआ था, जिसे ध्रुव ने अपदस्थ किया। शिवमार द्वितीय गोविन्द द्वितीय का सहायक था। फलतः राजत्व प्राप्त करने के बाद ध्रुव ने (७८० ई०–७९३ ई०) प्रतिकार-स्वरूप शिवमार द्वितीय के राज्य गंगवाड़ी को आक्रान्त किया। शिवमार पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया। ध्रुव ने अपने पुत्र स्तम्भ को गंगवाड़ी का उपराज नियुक्त किया। ध्रुव के बाद राष्ट्रकूट राजपीठ पर गोविन्द तृतीय (७९३ ई०–८१४ ई०) का अधिकार हुआ, जिसका अपने भाई स्तम्भ से वैरभाव था। स्तम्भ को अपदस्थ करके उसने शिवमार द्वितीय को कारागार से मुक्त कर दिया और उसे उसका राज्य भी वापस कर दिया। किन्तु शिवमार द्वितीय स्वतन्त्र होते ही स्तम्भ का समर्थक हो गया और गोविन्द तृतीय का विरोध करने लगा। फलतः वह पुनः बन्दी बना लिया गया। किन्तु कुछ दिनों बाद शिवमार द्वितीय और गोविन्द तृतीय में भी मैत्री सम्बन्ध की स्थापना हुई। शिवमार द्वितीय पुनः गंगवाड़ी में प्रतिष्ठित हो गया। उसने पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध गोविन्द तृतीय की बड़ी सहायता की।

इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में भी शिवमार द्वितीय का आधिपत्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गंगवाड़ी पर बना रहा। इसका शासनकाल ७८८ ई०–८१२ ई० के बीच निर्धारित किया जाता है।

यह बड़ा विद्वान् भी था। तर्कशास्त्र, दर्शन, नाट्यशास्त्र और व्याकरण का इसे अच्छा ज्ञान था। कन्नड भाषा में इसने 'गजाष्टक' प्रणीत किया।

इसके बाद गंगवाड़ी का राजवंश दो घरानों में बँट गया। एक शाखा शिवमार द्वितीय के भ्राता मारसिंह प्रथम के आधीन पनपी। श्रीपुरम्बियम् युद्ध का योद्धा पृथ्वीपति प्रथम शिवमार द्वितीय का पुत्र था। मारसिंह प्रथम के बाद क्रमशः मारसिंह द्वितीय और पृथ्वीपति द्वितीय का राजत्व हुआ। पृथ्वीपति प्रथम का शासनकाल ८५३ ई० और ८८० ई० के बीच ठहरता है। इसकी पुत्री कुन्दवै का विवाह समकालीन बाण नृप से हुआ था। श्रीपुरम्बियम् युद्ध में हत होने के बाद इसके पुत्र मारसिंह द्वितीय का राज्यारोहण हुआ और उसने ८८० ई०–९०० ई० तक राज्य किया। इसके राजत्व का विवरण ज्ञात नहीं है। इसका उत्तराधिकारी पृथ्वीपति द्वितीय था। यह बाण राजवंश के विरुद्ध था और पाण्ड्यनृप परान्तक प्रथम का सहायक था। इसकी कुछ उपाधियाँ 'बाणाधिराज', 'हस्तिमल्ल', 'शेम्बियनमाबाण-रायन' थीं।

पृथ्वीपति द्वितीय ९४० ई० के आस-पास मरा। विक्कीयण्ण अथवा विक्रमादित्य जो पृथ्वीपति द्वितीय का पुत्र था, पिता के पूर्व ही मर गया था। फलतः यह राज्य भूतुग, जो अन्य गंग शाखा का प्रतिनिधि था, की स्वायत्तता में चला गया।

यह दूसरी शाखा शिवमार द्वितीय के बाद प्राचीन गंगवंश के मुख्य और प्रतिनिधि शाखा के रूप में पल्लवित हो रही थी। शिवमार द्वितीय के बाद इसका भतीजा और विजयादित्य द्वितीय का पुत्र राजमल्ल प्रथम इस वंश का अधिष्ठाता बना। राजमल्ल का शासनकाल ८१७ ई० से ८५३ ई० के बीच था। यह बड़ा प्रतापी और कुशल शासक था। उदीयमान नोलम्ब वंश से वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना करके इसने अपनी शक्ति द्विगुणित की थी। इन दिनों राष्ट्रकूटों की स्थिति अच्छी नहीं थी और उनके आन्तरिक झगड़ों में राजमल्ल की भी रुचि रहा करती थी। अमोघवर्ष प्रथम (राष्ट्रकूट) ने राजमल्ल के शासनकाल में गंगवाड़ी को आक्रान्त किया था। इस आक्रमण का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सफलतापूर्वक प्रतिकार राजमल्ल द्वारा हुआ था, जिसमें नोलम्ब वंश की भी सहायता थी।

राजमल्ल प्रथम के बाद नीतिमार्ग नामक उसका पुत्र उसका उत्तराधिकारी हुआ और इसने ८५३ ई०–८७० ई० की अवधि में गंगवाड़ी का शासन किया। राष्ट्रकूटों से इसका भी संघर्ष जारी रहा और बाणवंश से भी इसका राजनीतिक सम्बन्ध अच्छा नहीं था। दोनों ही वंशों के समकालीन नृप नीतिमार्ग द्वारा पराजित हुये थे। बाद को राष्ट्रकूट अमोघवर्ष ने गंगवाड़ी से अच्छे सम्बन्ध की चेष्टा की थी और इस उद्देश्य से उसने अपनी कन्या चन्द्रवेलब्बा का विवाह नीतिमार्ग प्रथम के भाई भूतुग से कर दिया। भूतुग प्रथम और राजमल्ल द्वितीय, जो नीतिमार्ग प्रथम का पुत्र था, पाण्ड्यों के विरुद्ध पल्लवों के सहायक थे। इन दोनों ने पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध भी युद्ध किया था। इसके बाद नीतिमार्ग द्वितीय का शासन हुआ जो दीर्घकाल तक (९०७ ई०–९३५ ई०) गंगवाड़ी का अधिष्ठाता बना रहा। इसके तीन पुत्र थे। नरसिंह, राजमल्ल तृतीय और भूतुग द्वितीय। नरसिंह का शासनकाल अत्यन्त अल्प रहा और इसी तरह राजमल्ल तृतीय का भी। राजमल्ल तृतीय को राजत्व से अपदस्थ करके भूतुग द्वितीय ने गंगवाड़ी में अपने राजत्व की प्रतिष्ठा कर ली। यह घटना ९३७ ई० के आस-पास की है। इस घटना के कुछ ही दिनों बाद अर्थात् ९४० ई० में, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, (द्रष्टव्य पृ० ८६) गंगवंश की उपशाखा भी भूतुग के आधीन हो गयी।

बाणवंश

इस युग में बाणों का इतिहास भी पूर्वयुगों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। पल्लवों के प्रति इनकी निष्ठा पूर्ववत् बनी रही और उनके पाण्ड्यों के विरुद्ध सीमा युद्धों में बाणवंशीय नृप बराबर भाग लेते रहे। विक्रमादित्य प्रथम (८६८ ई०–८९० ई०) का विवाह यद्यपि गंगवंशीय पृथ्वीपति प्रथम की कन्या से हुआ था, किन्तु दोनों घरानों का वैमनस्य दूर न हुआ। पृथ्वीपति प्रथम ने नोलम्बों की सहायता से विक्रमादित्य को आक्रान्त किया, किन्तु परिणाम विपरीत हुआ। वैदुम्ब वंश बाणों का सहयोगी राजवंश था। दोनों ने सोरमती के युद्ध में (८७८ ई०) आक्रामक पृथ्वीपति प्रथम को पराजित किया। किसी अन्य अज्ञात राजनीतिक परिस्थिति में नोलम्ब और बाणों में पुनः संघर्ष हुआ। एक अभिलेख में नोलम्बवंशीय महेन्द्र प्रथम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(महेन्द्राधिराज) को बाणवंश का उच्छेत्ता बताया गया है। सम्भव है कि महेन्द्र प्रथम से बाणवंश को क्षति पहुँची हो किन्तु, ८९३ ई० (इसी तिथि का उक्त अभिलेख है) के बाद भी बाणवंश की परम्परा चलती रही। इस वंश के तीन अभिलेख क्रमशः ८९८ ई०, ९०५ ई० और ९०९ ई० के उपलब्ध हैं। इस अवधि में विजयादित्य द्वितीय बाणाधिपति के रूप में विख्यात था। किन्तु इसके बाद बाणवंश को चोलों की साम्राज्यवादिता का शिकार होना पड़ा। चोलनृप परान्तक प्रथम ने ९१५ ई० में बाणों को आक्रान्त किया था। किन्तु कुछ ही दिनों बाद बाण नृप विक्रमादित्य तृतीय के शासनकाल में बाणों की राजनीतिक स्थिति में सुधार सम्भव हुआ। विक्रमादित्य तृतीय कृष्ण तृतीय (राष्ट्रकूट) का सहायक था और दोनों ने ९४९ ई० के आस-पास तोण्डमण्डलम् को आक्रान्त कर वहां से चोलों के प्रभाव को कुछ समय के लिये छिन्न-भिन्न कर दिया। तक्कोलम् के युद्ध में परान्तक की पराजय से बाणों ने परान्तक प्रथम द्वारा अपने वंश के अपमान का बदला चुका लिया। किन्तु दशवीं शती के बाद का बाणवंश का इतिहास अन्धकार के गर्भ में है। इनकी जनपदीय स्थिति चोलों के पुनः संस्थापन से विनष्ट हो गयी और बाणवंश के लोग राजनीतिक प्रजाति के रूप में इतस्ततः घूमते रहे। सोलहवीं शती में बाणवंशीय सामन्त मदुरा के आसपास बिखरे हुए थे।

नोलम्ब

मैसूर के चीतलदुर्ग के आसपास नोलम्ब वंश प्रस्फुटित हुआ। ये अपना मूल पल्लव वंश में मानते थे। उच्छङ्गी, हेञ्जेस (हेमावती) और चीतलदुर्ग इनका आधीन क्षेत्र था। पश्चिमी गंगवंश से, इनका वैवाहिक और राजनयिक सम्बन्ध शिवमार द्वितीय के ही शासनकाल से चला आ रहा था। राष्ट्रकूटों से इनको अनेक बार पराभूत होना पड़ा। राजमल्ल प्रथम (पश्चिमी गंग वंश) ने भी नोलम्बों से अपना वैवाहिक सम्बन्ध बनाये रखा। राजमल्ल प्रथम की कन्या का विवाह तत्कालीन नोलम्ब नृप सिंगपोत से हुआ था। इसका पुत्र महेन्द्र प्रथम था। महेन्द्र प्रथम ने पश्चिमी गंग वंश से बाणों द्वारा अधिकृत पुलिनाड्डु क्षेत्र को अक्रान्त किया था। गंग और नोलम्ब की सम्मिलित सेना ८७८ ई में सोरमती के युद्ध में बाण तथा उनके सहायक वैदुम्बों द्वारा पराजित हुई। नीतिमार्ग द्वितीय (९०७ ई०–९६५ ई०) के शासनकाल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी पश्चिमी गंग और नोलम्ब वंश में शत्रुता हो गयी। नीतिमार्ग द्वितीय ने महेन्द्र प्रथम को एक युद्ध में मार कर 'महेन्द्रान्तक' की उपाधि धारण की। महेन्द्र प्रथम का पौत्र नन्नी था। गंगवंशीय मारसिंह तृतीय ने इससे नोलम्बवाड़ी छीन लिया और 'नोलम्बकुलान्तक' की उपाधि धारण की।

वैदुम्ब

नवीं शती में वैदुम्ब रेनाडु के शासक थे। जैसे नोलम्ब गंगवंश के परम्परागत मित्र थे, (आठवीं शती तक) वैसे ही वैदुम्ब बाण वंश के। इन दोनों राज्यों का उपयोग वस्तुतः तत्कालीन प्रबल राज्य शक्तिसंतुलन की स्थिरता के लिये करते थे। इस वंश के कुछ ज्ञात नृपों में इरिगय, गंड त्रिनेत्र, शन्डयन् तिरुवैयन् प्रथम और तिरुवैयन् द्वितीय आदि प्रसिद्ध हैं। इरिगय इस वंश का प्रथम ज्ञात नृप है। गंड त्रिनेत्र ने वैदुम्ब सेना के साथ, सोरमती के युद्ध (८७८ ई०) में गंग और नोलुम्ब आक्रमण के प्रतिकार के लिये बाणवंश की सहायता की थी। दशवीं शती में शन्डयन् तिरुवैयन् प्रथम को परान्तक प्रथम (चोल) ने पराजित कर वैदुम्बों को चोलों के आधीन कर लिया था। किन्तु इस दुर्भाग्य का प्रतिकार वैदुम्ब नृप शन्डयन् तिरुवैयन् द्वितीय ने राष्ट्रकूटों की सहायता से तक्कोलम् के युद्ध में (९४९ ई०) कर लिया। बाद को जब चोलों की राजनीतिक स्थिति पुनः दृढ़ हुई तो वैदुम्ब और चोल राजघरानों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया। अरिञ्जय चोल की पत्नी वैदुम्ब वंश की थी।

आलुपवंश

सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में आलुप वंश चालुक्यों के सामन्तराज के रूप में प्रतिष्ठित रहा। गुणसागर (६५० ई०) आलुप वंश का था और चालुक्यों की ओर से वनवासी का सामन्त नियुक्त था। इसका पुत्र चित्रवाहन बड़ा ही प्रतापी निकला। इसने अपने शासनकाल में (ल० ६७५–७०० ई) आलुप वंश को स्वतंत्र राजवंश के रूप में प्रतिष्ठित किया। यद्यपि ७०० ई० तक इसके शासन की परम्परा अक्षुण्ण रही, तथापि इसके शासनकाल ही में आलुप वंश को गृहयुद्ध की विपत्ति में भी पड़ना पड़ा। ८०० ई० तक चित्रवाहन प्रथम के राजवंश को किसी वास्तविक क्षति का सामना न करना पड़ा। ८०० ई० के लगभग चित्रवाहन द्वितीय नामक एक अन्य आलूपवंशीय नृप का पता चलता है। इसके बाद की स्थिति का पता नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कोङ्गुदेश और केरल के राजवंश

कोङ्गुदेश इस आलोच्यकाल में समकालीन साम्राज्यवादी शक्तियों, यथा पल्लव, पाण्ड्य और पश्चिमी गंगवंश का शिकार बना रहा। इनके आगे कोङ्गुदेश को सदैव झुकना पड़ा और कभी पल्लवों, कभी पाण्ड्यों द्वारा रौंदा जाता रहा। नेडुञ्जडयन् पाण्ड्य (७६५-८१५ ई०) ने कोङ्गुजनपद के (तगदूर के) अडिगमानों को उच्छिन्न कर अपना आधिपत्य कोङ्गुजनपद पर आरोपित किया था। जब आदित्य प्रथम (चोल) ने (ल० ८७१–९०७ ई०) पाण्ड्य राजवंश और पश्चिमी गंग को पराभूत किया तो कोङ्गुजनपद भी चोलों के आधीन हो गया।

केरल, सम्भवतः 'संगम युग' से ही पेरुमलवंश की संरक्षकता में रहा। किन्तु नवीं शती के प्रथम चरण में (८२५ ई० के लगभग) इस वंश का पराभव हो गया। केरल का इतिहास आलोच्य अवधि में स्पष्ट नहीं है। किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि इनका कोई प्रभावशाली राजनीतिक व्यक्तित्व न था। पाण्ड्यों के उत्कर्ष युग में केरल के राजवंश का वैवाहिक सम्बन्ध पाण्ड्य वंश से था। आदित्य प्रथम (चोल) का भी केरल से मैत्री सम्बन्ध था, और चोल तथा केरल राजवंशों के बीच भी वैवाहिक सम्बन्धों का निर्वाह पारम्परिक रूप में होता रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ७

साम्राज्यवादी चोलों का उदय

हम देख चुके हैं कि चोलों का इतिहास पुराना है। 'संगम युग' में करिकाल चोल की बड़ी मान्यता थी। कलभ्र संक्रान्ति के परिणाम से अन्य दक्षिणभारत के राज्यों की तरह चोलों की भी राजनीतिक प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी और यह प्राचीन राजवंश यत्र-तत्र छिन्न-भिन्न हो गया। कलभ्रों के पतन के बाद जहां कडुङ्गोन् के नेतृत्व में पाण्ड्य राज्यवंश में राजनीतिक स्थिरता आयी और उत्तर में पल्लवों के उत्कर्ष का श्रीगणेश हुआ, चोल वंश अपने अस्तित्व की रक्षा का ही सामर्थ्य और संयोग जुटाता रहा। नवीं शती के द्वितीय चरण के पूर्व (विजयालय चोल के पूर्व) चोल कभी पल्लव और कभी पाण्ड्य राजवंशों के वशीभूत रहे। कभी उनसे वैवाहिक सम्बन्ध करते और कभी उनकी चाकरी कर किसी तरह, दोनों राजवंशों से, जिसका भी पलड़ा जिस समय भारी होता अपना ऐसा सम्बन्ध बनाये रखते जो उनके वंश के अस्तित्व संरक्षण के लिये उपादेय होता। किन्तु विजयालय और उसके उत्तराधिकारियों के उदय से स्थिति में परिवर्तन हुआ। नवीं शती के आस-पास, जो चोलों का उदयकाल है पल्लव और पाण्ड्य राज्यवंशों का अस्तकाल भी है। इन दो प्रतिद्वन्दी राजवंशों की पराभवमूलक परिस्थितियों से उदीयमान चोलों ने आशातीत लाभ उठाया।

श्री पुरम्बियम् के युद्ध में पल्लवों की ओर से चोल नृप आदित्य प्रथम ने भी भाग लिया था। इसका पिता विजयालय था जो साम्राज्यवादी चोलवंश का संस्थापक था। इसकी उपाधि 'परकेशरी' भी थी और इसके कुछ अभिलेख केवल परकेशरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह पाण्ड्य नृप वरगुण और पल्लव नरेश अपराजित का भी समकालीन था। श्रीपुरम्बियम् के युद्ध के पूर्व ही ८५० ई० के लगभग इसने अपने राज्य की नींव डाल ली थी। त्रिचनापल्ली जिले से प्राप्त एक अभिलेख से अनुमान होता है कि इस समय के लगभग विजयालय ने कावेरी तट पर स्थित उरैयूर को अधिकृत कर लिया था। तिरुवालङ्गाडु अभिलेख से सूचना मिलती है कि उसने तञ्जोर पर भी अधिकार कर लिया था और तञ्जोर की राज्यश्री को उसने इस प्रकार अपने आधीन कर लिया था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'मानो वह उसकी विवाहिता हो।' वहां उसने निशुम्भ सूदनी दुर्गा का एक मन्दिर भी निर्मित किया था। पल्लवों की राजनीतिक स्थिति काञ्ची में सुदृढ़ रहते हुये विजयालय की वास्तविक शक्ति क्या थी—यह कहना कठिन है किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसकी प्रभुता का विस्तार बढ़ता ही जा रहा था और सम्भवतः पल्लवों के सामन्त के रूप में उसका प्रभाव तोण्डमण्डलम् के दक्षिणी भाग में बढ़ गया था। इसने कम से कम ८७१ ई० तक शासन किया।

इसका उत्तराधिकारी आदित्य प्रथम था। इसकी शासनावधि ८७१ ई०–९०७ ई० निर्धारित की जाती है। यह बड़ा प्रतापी था और श्रीपुरम्बियम् युद्ध का सफल योद्धा था। अनबिल दानपत्र में उल्लेख है कि 'कावेरी के दोनों किनारों पर सह्याद्रि से समुद्रतट तक उसने अपने विजयों की स्मृति में शिव मन्दिरों की श्रृङ्खला स्थापित की।' तिरुवालङ्गाडु अभिलेख के अनुसार इसने श्रीपुरम्बियम् संग्राम के विजेता अपराजित को अपदस्थ किया और उसके राजत्व का उपभोक्ता बना। कन्याकुमारी अभिलेख में भी उसके पल्लव-विजय का विवरण है। इसके अनुसार इसने अपने प्रतिद्वन्दी पल्लव नरेश को मारा और तदुपरान्त 'कोदण्डराम' की उपाधि धारण की। तिल्लैस्थानम् अभिलेख से इस तथ्य का संकेत मिलता है कि राजकेशरी ने (राजकेशरी आदित्य प्रथम की उपाधि थी) तोण्डमण्डलम् को अपनी स्वायत्तता में किया था, यद्यपि कालान्तर में अवशिष्ट पल्लवों ने शक्ति संघटित कर ली थी और आदित्य प्रथम के उत्तराधिकारी परान्तक प्रथम को पुनः पल्लवों के विरुद्ध अभियान करना पड़ा। आदित्य प्रथम की पल्लवों पर विजय ८९० ई० के आसपास हुई।

ऐसा अनुमान होता है कि चोलों के पल्लव विरोधी-अभियान में गंगवंशीय नृप भी सहायक थे। पृथ्वीपति द्वितीय ने आदित्य प्रथम की आधीनता स्वीकार कर ली थी। 'कोङ्गुदेश राजाक्कल' का विवरण है कि आदित्य ने तञ्जोर में अभिषिक्त होने के बाद तलकाड को विजय किया और कोङ्गु जनपद पर अपना राजत्व स्थापित किया। चेर जनपद से उसका अच्छा सम्बन्ध था और तत्कालीन चेर नृप स्थाणुरवि उसका मित्र था।

आदित्य प्रथम की मृत्यु तोण्डैमानाड्डु (चित्तूर जिले के कालहस्ति के पास) में हुई जहाँ उसकी स्मृति में उसके पुत्र परान्तक प्रथम ने 'कोदण्ड-रामेश्वर' और 'आदित्येश्वर' के नाम से मन्दिर निर्मित कराया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परान्तक प्रथम

इस प्रकार चोल साम्राज्य का वास्तविक शिलान्यास आदित्य के द्वारा हुआ। श्रीपुरम्बियम् युद्ध के बाद चोलों ने बड़ी शीघ्रता से पल्लवों को पराजित किया और उरैयूर से तञ्जोर तक का क्षेत्र अधिकृत करने के बाद आदित्य प्रथम ने तत्कालीन समस्त पड़ोसी राजनीतिक शक्तियों को या तो वशीकृत कर लिया था या उनसे मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इस प्रकार जब परान्तक प्रथम चोल राजपीठ पर आसीन हुआ तो उसकी राज्य-सीमा उत्तर में मद्रास और कालहस्ति से और दक्षिण में कावेरी से निर्धारित होती थी। इस बीच पश्चिम का पतला समुद्रीतट और मैसूर का कुछ इलाका चोल राज्य में शामिल नहीं था। परान्तक का चेरों से परम्परागत मैत्री सम्बन्ध स्थापित रहा किन्तु अभी उसे पाण्ड्य राजवंश से टक्कर लेनी थी। समकालीन राष्ट्रकूटों से भी उदीयमान चोलवंश को खतरा था।

सर्वप्रथम परान्तक ने पाण्ड्य जनपद को आक्रान्त किया। अपने राजत्व के तीसरे ही वर्ष में उसने मदुरा पर अधिकार कर 'मदुरैकोण्ड' की उपाधि धारण की। 'महावंश' में परान्तक द्वारा पाण्ड्य विजय का अच्छा और प्रामाणिक विवरण सुरक्षित है। इसके अनुसार प्रथम संघर्ष में पाण्ड्य नृप राजसिंह परान्तक से पराजित हो गया। तदुपरान्त उसने सिंहल नरेश से चोलों के विरुद्ध सहायता की याचना की। तत्कालीन सिंहल नरेश ने अपने सेनापति सक्कसेनापति के नेतृत्व में एक सेना भेज दी। किन्तु उसी समय संक्रामक महामारी के फैलने के कारण सिंहल नरेश ने सेना वापस बुला ली। राजसिंह भी महामारी का शिकार हुआ। 'महावंश' का यह संक्षिप्त विवरण कई अभिलेखों द्वारा आंशिक सम्पुष्टि पाता है। उदयेन्दिरम् दानपत्र में (९२१-९२२ ई०) लिखा है कि परान्तक की सेना ने पाण्ड्य राजा की सेना को पराभूत कर मदुरा को अधिकृत किया। साथ ही लंका के राजा कस्सप पञ्चम द्वारा प्रेषित सेना को भी जीत कर उसने 'संग्राम राघव' की उपाधि धारण की। लंका और पाण्ड्य सेना को उसने उदयेन्दिरम् दानपत्र के पूर्व अर्थात् ९२१ ई० के पूर्व ही वेलूर के युद्ध में पराजित किया। ९२३ ई० में राजसिंह को पराजित कर और मदुरा को अधिकृत कर 'मदुरैयुम इलमुम कोण्ड' की उपाधि धारण करने का अधिकारी हो चुका था।

वेलूर के युद्ध में पराजित होकर राजसिंह पुनः लंका की शरण में गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उस समय दप्पुल चतुर्थ (९२३-९२४ ई०) लंका का शासक था। अपनी आन्तरिक परिस्थितियों के कारण राजसिंह के प्रति सहायता की वृत्ति रखते हुये भी वह कुछ न कर सका और किन्हीं अव्यवस्थाओं में पड़कर राजसिंह को अपना राजचिह्न मुकुट आदि भी वहीं छोड़कर केरल भाग आना पड़ा। केरल के राजाओं ने भी चोलों के विरुद्ध राजसिंह की कुछ सहायता न की। राजसिंह का लंका-प्रवास सम्भवतः परान्तक के सोलहवें और छब्बीसवें राजत्व वर्षों के बीच कभी हुआ था।

परान्तक ने वेल्लूर युद्ध के बाद अपना समय अपने राजत्व की स्थिरता और समृद्धि में लगाया। अपनी स्थिति दृढ़ करने के बाद, उसने पाण्ड्यों की राजनगरी मदुरा में अपने अभिषेक की एक योजना बनायी। इस संदर्भ में पाण्ड्यों के परम्परागत राजमुकुट (जो कि राजसिंह द्वारा लंका ही में छुट गया था) को हस्तगत करना आवश्यक समझा। उसने एक सेना लंका इसी प्रयोजन से भेजी। इन दिनों लंका का शासक उदय चतुर्थ था (९४५–९५३ ई०) जो एक प्रतापी और क्रूर नृप था। उसने चोल सैनिकों को पराजित कर दिया। परान्तक का लंका अभियान असफल रहा। यह घटना सम्भवतः परान्तक प्रथम के शासन के अन्तिम वर्षों की है।

इस प्रकार पाण्ड्यों के प्रसंग में लगातार सफलता मिलते हुए भी उसे अपने जीवनकाल तक पाण्ड्य और उसके मित्र सिंहल राज वंश से युद्धरत अथवा विग्रहपूर्ण सम्बन्धों का निर्वाह करते रहना पड़ा। पाण्ड्य-चोल संघर्ष दीर्घकालीन रहा और जैसा कि पाण्ड्य अभिलेखों से पता चलता है, चोलों को भी राजसिंह से युद्ध करते काफी क्षति उठानी पड़ी थी। परिणाम अन्ततः चोलों के पक्ष में अनुकूल हुआ। यह भी ज्ञातव्य है कि इन संघर्षों में चोल वंश को राजसिंह के कतिपय प्रतिद्वन्द्वियों का सहयोग भी प्राप्त था। केरल और पलुवेत्तरैयर के सामन्तों ने वेल्लूर के युद्ध में परान्तक का पक्ष लिया था।

किन्तु परान्तक का एकमात्र संघर्ष राजसिंह से ही नहीं हुआ। अन्य समकालीन शक्तियों से भी उसकी टक्कर हुई। पाण्ड्यों का मित्र बाण राजवंश था। उदयेन्दिरम् दानपत्र के अनुसार बाण वंश का समकालीन नृप परान्तक से पराजित हुआ था और उनके सहयोगी वैदुम्बों का भी उन्मूलन परान्तक द्वारा किया गया था। शोलिङ्गपुर शिलालेख से, जो परान्तक के नवें राजत्व वर्ष में प्रकाशित हुआ था, ज्ञात होता है कि गंगवंशीय पृथ्वीपति द्वितीय ने बाणों के विरुद्ध परान्तक की सहायता की थी और युद्ध में

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अद्वितीय पौरुष दिखाने के कारण परान्तक द्वारा पृथ्वीपति द्वितीय को 'बाणाधिराज' की उपाधि उपलब्ध हुई थी। यह युद्ध वल्लाल नामक स्थान में हुआ था। चोल और बाण वंश के बीच जो संघर्ष हुआ था उसका कारण था राष्ट्रकूट नृप कृष्ण द्वितीय का परान्तक के विरुद्ध अभियान। परान्तक की राजत्व-प्राप्ति के बाद ही कृष्ण द्वितीय ने चोल राजपीठ से परान्तक को च्युत कर अपने नाती कन्नरदेव को चोलों का राजा बनाना चाहा। इसी योजना में उसने बाणों के सहयोग से परान्तक प्रथम को आक्रान्त किया था। वेल्लूर के युद्ध में कृष्ण द्वितीय की पराजय हुई और बाणों का विनाश हुआ। यह घटना ९०९ ई० और ९१६ ई० के बीच कभी घटी। बाणों की ही तरह वैदुम्बों को भी परान्तक के हाथों मार खानी पड़ी। ९१५ ई० के आसपास वैदुम्ब नरेश महाराज शडयैन् तिरुवैयन् अथवा उसका उत्तराधिकारी परान्तक से पराजित होकर राष्ट्रकूटों का शरणापन्न हुआ। परान्तक प्रथम के सामन्त मारन् परमेश्वरन् ने जो सिरु कुलत्तूर वंश का था, शीतपुलि और नेल्लूर को जीत कर (९४१ ई० के लगभग) परान्तक के आधीन किया। उन दिनों शीतपुलिनाडु, और नेल्लूर का क्षेत्र वेङ्गी नृप भीम द्वितीय के आधीन था। किन्तु इसकी भी सम्भावना है कि परान्तक इस क्षेत्र पर स्थायी रूप से अपने स्वामित्व की स्थापना न कर सका हो—क्योंकि इस क्षेत्र से परान्तक का कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। ९४० ई० के लगभग का समय भी परान्तक के लिये विषम था। उसका प्रधान सहयोगी पृथ्वीपति द्वितीय इसी समय के आसपास मर गया किन्तु ९४० ई० के पूर्व ही परान्तक को राष्ट्रकूटों की ओर से आशंका उत्पन्न हो गयी थी। उसने ९३६ ई० के पूर्व ही अपने पुत्र राजादित्य को तिरुमुनैप्पाडि के क्षेत्र में महती सेना के साथ भेज दिया था जहां से वह राष्ट्रकूट नृप कन्नरदेव अथवा कृष्ण तृतीय के बढ़ाव को रोकता। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति भी विषम थी। पृथ्वीपति द्वितीय के उत्तराधिकारी भूतुग द्वितीय का राष्ट्रकूटों से घना सम्बन्ध था। बाण और वैदुम्ब भी राष्ट्रकूटों के शरणापन्न थे। इस परिस्थिति में अर्थात् बाण, वैदुम्ब, और गंग वंश के सहयोग से वृद्ध परान्तक की अपेक्षा तरुण कृष्ण तृतीय कहीं अधिक शक्तिशाली था। उसकी सहायता नोलम्बों का अधिपति पोलचार द्वितीय भी कर रहा था।

कृष्ण तृतीय का चोलों के विरुद्ध जो अभियान हुआ, उसकी ठीक-ठीक तिथि निर्धारित करना कठिन है। किन्तु बहुमान्य मान्यता के अनुसार, ९४९ ई० में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कृष्ण तृतीय ने तक्कोलम् के युद्ध में चोलों को पराजित किया। भूतुग द्वितीय के आतकूर अभिलेख के अनुसार भूतुग के तीक्ष्ण बाण से राजादित्य मारा गया और इसी से चोलों की सेना की पराजय हुई यद्यपि अपनी बची-खुची शक्ति से कृष्ण तृतीय के बढ़ाव को रोकने का यत्न परान्तक लगभग अगले दशक तक (९५६ ई० तक[1]) करता रहा। किन्तु उसके जीवन के अन्त तक उसका विजित विश्रृङ्खलित होने लग गया था। उत्तर का काञ्ची तक का तोण्डमण्डलम् क्षेत्र राष्ट्रकूटों के हाथ में पड़ गया। उसके साम्राज्य का कुछ धुर दक्षिणी भाग भी चोलों की आधीनता से मुक्त हो गया। लंका के राजा उदय चतुर्थ के विरुद्ध परान्तक की असफलता का विवरण हम प्रस्तुत कर चुके हैं। इस प्रकार परान्तक के शासन के अन्तिम वर्ष उसकी असफलताओं का काल था जिसमें न केवल उसने अपने विशाल साम्राज्य का कई महत्त्वपूर्ण अंश गँवाया अपितु उसे अपना सबसे योग्य पुत्र राजादित्य भी खो देना पड़ा।

परान्तक ने पैंतालिस वर्षों तक शासन किया। ९५५-९५६ ई० के आसपास वह मर गया। मरते समय उसके चार और पुत्र थे। इनके नाम गण्डरादित्य, अरिकेशरी, उत्तमशालि और अरिन्डिगै अथवा अरिञ्जय ज्ञात हैं। परान्तक की एकादश पत्नियों का भी नाम अभिलेखों से ज्ञात होता है।

परान्तक प्रशासन में सुदक्ष था और अपने राज्य के आर्थिक उत्पादनों की अभिवृद्धि के लिये तत्पर रहता था। कृषि की सुविधा के लिये उसने नहरें निकालीं। वह बड़ा धार्मिक और शिवभक्त था। चोल मन्दिरों के निर्माण की वास्तविक परम्परा की नींव इसी के द्वारा पड़ी। अभिलेखों से पता चलता है कि उसने अनेक बार 'हेमगर्भ' और 'तुलाभार' यज्ञ सम्पादित किये थे। इसकी अनेक उपाधियों में 'परकेशरीवर्मन्', 'वर नारायण', 'देवेन्द्र' चक्रवर्त्ती, पण्डित-वत्सल, कुञ्जरमल्ल, शूरशूलामणि विशेष लोकप्रिय थीं।

परान्तक प्रथम के बाद का चोलों का इतिहास तबतक संदिग्ध और अस्तव्यस्त है जब तक कि राजराज प्रथम (९८५ ई०) का राज्यारोहण नहीं हो जाता। इस बीच के चोल राजाओं के सम्बन्ध में प्राप्त तिथिपरक प्रमाण भी भ्रामक हैं। ९५३ ई० अथवा ९५६ ई० में गण्डरादित्य का राज्यारोहण हुआ। उसके शासनकाल में चोल साम्राज्य संकुचित हो गया था और तोण्डमण्डलम् को

---

१. कुछ विद्वान परान्तक के शासन का अन्त ९५३ ई० के आस पास ही मानते हैं।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कृष्ण तृतीय से छीन कर पुनः चोल साम्राज्य के अन्तर्गत ले आना इसके पौरुष के बाहु का कर्म था। इसके विपरीत कृष्ण तृतीय अभी भी शक्तिमान था और चोल साम्राज्य पर, मुख्यतया दक्षिणी अर्काट के क्षेत्र में धावे पर धावे करता जा रहा था। चोलों से बहुत सा प्रदेश छीन कर उसने अपने अनेक सामन्तों में बाँट दिया था। गण्डरादित्य का शासन बहुत दीर्घकालीन न रहा और ९५७ ई० के आसपास उसके राजत्व की परिसमाप्ति हुई। इसका पुत्र उत्तम चोल था जो गण्डरादित्य के पर्यवसान के समय अल्पवयस्क था। इसके बाद इसका भाई अरिञ्जय परकेशरी राज्यारूढ़ हुआ। कुछ इतिहासकार 'अरिकुलकेशरी' इसकी उपाधि मानते हैं और इस प्रकार परान्तक के पुत्र अरिकुलकेशरी और अरिञ्जय को एक ही व्यक्ति मानते हैं। जो भी हो अरिञ्जय ही गण्डरादित्य के बाद चोल साम्राज्य का स्वामी बना। इसने कृष्ण तृतीय से, जैसा कि तिरुनागेश्वरम् अभिलेख से संकेत मिलता है, तोण्डमण्डलम् के लिये संघर्ष किया था। किन्तु परिणाम का ठीक-ठीक पता नहीं चल पाता। सम्भवतः इसी तरह के किसी संघर्ष में आरूर के युद्ध में रिपुञ्जय मारा भी गया। इसके बाद उसका पुत्र सुन्दर चोल राजा बना।

सुन्दर चोल परान्तक द्वितीय ने 'मदुरैकोण्ड राजकेशरी' की उपाधि धारण की थी। गण्डरादित्य के ही शासनकाल में वीर पाण्ड्य ने पाण्ड्यजनपद को चोल प्रशासन से मुक्त कर लिया था। सुन्दर चोल ने पाण्ड्य जनपद में पुनः प्रविष्ट होने की चेष्टा की। लाइडन दानपत्र में सुन्दर चोल परान्तक और वीर पाण्ड्य के संघर्ष का विवरण सुरक्षित है। इसके अनुसार केवूर के संग्राम में परान्तक द्वितीय ने वीरपाण्ड्य के साथ भीषण संग्राम किया। इस युद्ध में उसका अल्पवयस्क पुत्र आदित्य भी सुन्दर चोल परान्तक द्वितीय के साथ था। करण्डै दानपत्र के अनुसार वीर पाण्ड्य बुरी तरह परास्त होकर सह्याद्रि की तरफ भाग गया। वीरपाण्ड्य की ओर से लंका की सेना भी चोलों का विरोध कर रही थी। अतएव प्रतिशोध के लिये चोल सेनापति शिरीयवीलार ने महिन्द्र चतुर्थ को, जो इस समय लंका का राजा था, आक्रान्त किया। 'महावंश' में इस आक्रमण का विवरण है। युद्ध का परिणाम चोलों का पराजय था और उसकी सेना अन्त में लंका के राजा से सन्धि कर वापस लौट आयी। सम्भवतः वीर पाण्ड्य भी कालान्तर में अपनी स्थिति सुधारने में सफल हुआ क्योंकि वीरपाण्ड्य का पाण्ड्य जनपद से वास्तविक उन्मूलन राजराज के शासन काल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही में हुआ। सुन्दर चोल और आदित्य का प्रयास अधूरी सफलता तक ही सीमित रहा और इस कार्य को पूर्णता राजराज प्रथम द्वारा मिली।

उत्तर में सुन्दर चोल के अभियान का स्थायी परिणाम हुआ। यद्यपि उन परिस्थितियों का ज्ञान नहीं है कि कैसे सुन्दर चोल ने कृष्ण तृतीय से तोण्ड-मण्डलम् का क्षेत्र पुनः प्राप्त किया किन्तु इसके लिये पुष्ट प्रमाण है कि जब वह मरा तो काञ्ची उसके अधिकार में था। उसकी मृत्यु काञ्ची में ही हुई थी। सुन्दर चोल के शासनकाल में कृष्ण तृतीय के नियंत्रण से उत्तरी अर्काट, दक्षिणी अर्काट और चिङ्गलेपुट का इलाका मुक्त हो चुका था, इसका एक यह भी प्रमाण है कि इस अवधि में इस क्षेत्र से कृष्ण तृतीय के अभिलेख या तो मिले ही नहीं, अथवा मिले भी हैं तो बहुत कम।

इस प्रकार सुन्दर चोल परान्तक द्वितीय एक पराक्रमी नृप सिद्ध हुआ। अभिलेखों में उसकी तुलना 'मनु' से की गयी है और उसके सुशासन की प्रशंसा की गयी है। उसने कोडुम्बालूर राजवंश से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया और इस मैत्री का उपयोग वीर पाण्ड्य के विरुद्ध किया। वह बड़ा ही नीतिज्ञ था। साहित्य के पोषक के रूप में भी उसकी बड़ी ख्याति थी। संस्कृत और तमिल साहित्यकारों को संरक्षण दिया। धार्मिक दृष्टि से भी बड़ा उदार था। स्वयं शैव था किन्तु बौद्ध धर्म के प्रति भी सहिष्णु था।

इसके जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष दुःखपूर्ण थे। इसका पुत्र आदित्य द्वितीय, जैसा कि उदयारगुडी के अभिलेख से पता चलता है, पारिवारिक षडयन्त्र का शिकार हुआ और मारा गया। सम्भवतः उत्तम चोल ने अपने राजत्व लाभ के लिये सुन्दर चोल के पुत्र आदित्य द्वितीय की हत्या करवा दी थी। फलतः वह स्वयं सुन्दर चोल का उत्तराधिकारी बना।

उत्तम चोल के राजत्व का प्रारम्भ ९७३ ई० में हुआ और वह ९८५ ई० तक शासन करता रहा। इसके शासनकाल के राजनीतिक गतिविधियों की कोई जानकारी नहीं है। किन्तु उसके अभिलेख चूँकि उत्तरमेरु, काञ्चीपुरम्, तक्कोलम् और तिरुवण्णामलै से उपलब्ध हुये हैं, अतएव यह कहा जा सकता है कि इस अवधि में चोलों का प्रभाव तोण्डमण्डलम् और उसके उत्तर में उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। उसकी ये उपलब्धियाँ तोण्डमण्डलम् में राष्ट्रकूट सत्ता के पराभव की द्योतक हैं। इन क्षेत्रों से जो अभिलेख मिले हैं, वे धार्मिक कृत्यों और तत्सम्बन्धी निर्माण के प्रसंग में हैं। इससे यह भी प्रमाण मिलता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि उत्तम चोल ने इस क्षेत्र में अपने सुशासन द्वारा चोल शासन को भली भांति प्रतिष्ठित कर लिया था। वस्तुतः उत्तम चोल का प्रयत्न जितना पूर्व-विजित को सुरक्षित और सुव्यवस्थित करने का था उतना साम्राज्य विस्तार करने की ओर नहीं था। यही कारण है कि उसके शासनकाल में चोल साम्राज्य की समृद्धि विकसित हुई। इसी विकासोन्मुख समृद्धि का प्रतीक था कि उसने सर्वप्रथम स्वर्णमुद्रा का प्रचलन किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ८

महान् चोल और उनकी परम्परा

चोलों की महान् परम्परा का वास्तविक उद्घाटन राजराज द्वारा हुआ। राजराज अरिमौलिवर्मन् परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल का पुत्र था। उत्तम चोल के शासनकाल में ही यह युवराज पद से शासन की अच्छी दीक्षा ले चुका था। इसका राज्यारोहण २५ जून ९८५ ई० को हुआ। अपने तीस वर्षीय शासनकाल में इसने चोल राजत्व और समृद्धि को दृढ़ आधार प्रदान किया। शासन के आरम्भ में पैत्रिक विजित संकुचित होकर छोटा हो गया था, तथा उसके छोटे से राज्य पर भी राष्ट्रकूटों के धावों की आशंका बनी हुई थी। अतएव उसने पहले प्रशासन और सेना को संगठित करने में अपना ध्यान केन्द्रित किया। साम्राज्य विस्तार की इसकी उत्कट आकांक्षा थी अतएव उसने शासन की आरम्भिक अवस्था से ही अभियान की योजनाओं को कार्यान्वित करने की चेष्टा की। इसके अभियान का पहला शिकार केरल जनपद हुआ और उस पर अपना विजय स्थापित कर राजराज ने 'काण्डलूर शालैक कलमरुत्त' की उपाधि धारण की। सम्भवतः केरल-विजय उसके चतुर्थ राजत्व वर्ष में सम्पन्न हुआ। यह संघर्ष त्रिवेन्द्रम में हुआ था।

तिरुवालङ्गाडु दानपत्र के विवरण के अनुसार राजराज ने अपने दिग्विजय के प्रसंग में सम्भवतः राजत्व के आठवें वर्ष में पाण्ड्य जनपद को आक्रान्त किया। उस समय पाण्ड्य जनपद का शासन अमरभुजङ्ग के हाथों में था। पाण्ड्य जनपद की सहायता में सिंहल और चेर[1] की सेना भी सन्नद्ध थी। इस चोल अभियान का नेतृत्व युवराज के रूप में राजराज का सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र कर रहा था। चेर और पाण्ड्य जनपद के विरुद्ध चोल अभियान का पूर्ण विवरण ज्ञात नहीं है। किन्तु चोल-पाण्ड्य संघर्ष का परिणाम, पाण्ड्य नृप अमरभुजङ्ग का पराजय था। मदुरा को आधीन करने के बाद राजराज ने कुडमलै नाडु (कुर्ग) को जीतकर उडगै का दुर्ग अपने आधीन किया। तिरुवालङ्गाडु दानपत्र में सिंहल के विरुद्ध अभियान का अपेक्षाकृत

---

१. कुछ विद्वान् केरल अभियान को पाण्डच अभियान के साथ की घटना मानते हैं।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक स्पष्ट विवरण है। इसके अनुसार राजराज की नौसेना ने सिन्धु तर कर लंका के राजा महिन्द (महेन्द्र पंचम) को आक्रान्त किया और लंका को भस्म किया। 'महावंश' में राजराज के लंका अभियान की चर्चा नहीं है। सम्भवतः जिन दिनों (९८१ ई० के आसपास) लंका में आन्तरिक विद्रोह फैला हुआ था और महिन्द (महेन्द्र पंचम) राजत्व से भ्रष्ट होकर लंका के रोहण क्षेत्र में पलायित हो गया था, उन्हीं दिनों राजराज चोल की ओर से राजेन्द्र ने लंका को आक्रान्त किया था और वहां की आन्तरिक अव्यवस्था से लाभ उठाकर उत्तरी लंका को चोल साम्राज्य का अङ्ग बना लिया था। लंका के इस क्षेत्र को 'मामुण्डी शोलमण्डलम्' कहा जाने लगा। इस विजय से चोलों की प्रभाववृद्धि हुई और लंका में चोल साम्राज्य का विस्तार हुआ। इसके पूर्व के जिन चोल नृपों ने लंका को आक्रान्त किया था उनकी नीति लंका में स्थायी शासन करने की न थी। किन्तु राजराज ने लंका जीतने पर अपने विजित को साम्राज्य का अंग बना लिया और स्थायी शासन की व्यवस्था की। लंका की परम्परागत राजनगरी अनुराधापुर को त्यक्त कर पोलोन्नरुवा में अपनी केन्द्रीय सत्ता स्थापित की। पोलोन्नरुवा का नाम बदल कर 'जननाथमङ्गलम्' किया और वहां शिव मंदिरों का निर्माण कराया।

लंका-विजय के बाद राजराज ने गंगपाडि को आक्रान्त किया और सम्भवतः इसी अभियान क्रम में राजराज ने नोलम्बपाड़ि और तडिगैपाडि को भी विजित किया। ये सभी राज्य मैसूर में थे। नोलम्ब विजय के पूर्व ही राजराज ने शालै प्रदेश को जीत लिया था। कोङ्गु जनपद पैत्रिक रूप से ही उसके आधीन रहा प्रतीत होता है। उत्तर में राष्ट्रकूटों की स्थिति भी विपन्नावस्था में थी। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रकूटों के राजनीतिक सहायक नोलम्ब और गङ्ग भी बड़ी विपत्ति में थे। ऐसा प्रतीत होता है कि बड़ी ही सरलता से नोलम्बपाडि पर चोल प्रभुत्व ९९० ई० तक स्थापित हो गया। तदुपरान्त नोलम्ब नृप सामन्त की हैसियत से चोलों के आश्रित हो गये। इससे गंग वंश अकेला पड़ गया। राजराज की सेना ने कोङ्गु जनपद होकर और कावेरी पार कर तडिगैपाडि और तलकाड को आधीन कर लिया। इन समस्त विजयों को ९९१ ई० के आस पास रखा जा सकता है।

राजराज के उत्तरोत्तर साम्राज्य विस्तार के प्रति पश्चिमी चालुक्य कुल के नृप तैलप द्वितीय और उसके उत्तराधिकारी सत्याश्रय सशंक थे। तैलप द्वितीय के शासनकाल में (९९२ ई० के आसपास) पश्चिमी चालुक्यों और चोलों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीच एक झड़प हो भी गयी थी जिसमें चालुक्यों ने चोलों को पराजित कर उनसे १५० हाथी छीन लेने में सफलता प्राप्त की थी। यह घटना सम्भवतः तैलप द्वितीय के शासनकाल की ही है। इसका उत्तराधिकारी सत्याश्रय हुआ, जिसके शासनकाल में (९९७–१००८ ई०) चालुक्य-चोल संघर्ष बड़ा उग्र हो उठा था।

चोल अभिलेखों का विवरण है कि राजराज ने राजेन्द्र चोल के नेतृत्व में जो सेना तुङ्गभद्रा की ओर भेजी, उसने बड़ी सफलता से सत्याश्रय को पराजित और पराभूत किया और 'रट्टपाडि' जनपद को चोल साम्राज्य के अन्तर्गत किया। 'तिरुवालङ्गाडु दानपत्र' के अनुसार राजराज की महती सेना के सामने 'सत्याश्रय' 'कष्टाश्रय' हो गया। करण्डै (तंजोर) अभिलेख से पता चलता है कि यह चोल-चालुक्य संघर्ष तुङ्गभद्रा के तट पर हुआ था जहाँ युद्ध करते हुए चालुक्य सेनापति केशव चोलों द्वारा बन्दी बना लिया गया था।

सत्याश्रय के होट्टूर (धारवार) अभिलेख (१००७ ई०) में भी चोल-चालुक्य संघर्ष का विवरण है। इसके अनुसार 'नित्यविनोद' राजराज चोल के पुत्र 'नूरमणि चोल राजेन्द्र विद्याधर' ने ९ लाख की सेना से चौलुक्य क्षेत्र को आक्रान्त किया और लूटपाट करता हुआ दनूर (वीनापूर) तक पहुंच गया। इस आक्रमण में स्त्री-बच्चों तथा ब्राह्मणों तक की हत्या की गयी और कुमारियों का सतीत्व भ्रष्ट किया गया। ब्राह्मण कुमारियों का अपहरण कर उन्हें बलात् अद्विजों से विवाहित किया गया। पता नहीं सत्याश्रय के इस अभिलेख में कितना सत्यांश है, किन्तु उभय पक्ष के प्रमाणों से इतना स्पष्ट है कि चोलों के आगे चालुक्य पराजित हुये और चौलुक्य साम्राज्य का महत्त्वपूर्ण अङ्ग रट्टपाडि चोलों के आधीन हुआ।

शीघ्र ही सत्याश्रय की सामरिक और राजनीतिक परिस्थितियों में सुधार सम्भव हुआ। होट्टूर अभिलेख में ही इसका वर्णन है कि 'तिगुलमारि' (तमिल हन्ता) सत्याश्रय ने शीघ्र ही चोलों को पराङ्मुख होने के लिये बाध्य किया, उनके समस्त 'वस्तु वाहन' को छीन लिया और दक्षिण का विजय किया।

प्राप्त प्रमाणों से यद्यपि यह कहना कठिन है कि होट्टूर अभिलेख के संदर्भ में सत्याश्रय की वास्तविक उपलब्धि क्या थी, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस चोल-चालुक्य कशमकश के परिणाम स्वरूप चोलों के साम्राज्य की उत्तरी सीमा तुङ्गभद्रा तक पहुंच गयी।

समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों के कारण राजराज ने पूर्वी चालुक्यों

CC-0 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के प्रति मैत्री-स्थापना की नीति अपनायी और वह इस प्रयत्न में लगा कि पूर्वी चालुक्यराजवंश तथा पश्चिमी चालुक्य राजवंश के बीच दरार पड़ जाय। इन दिनों पूर्वी चालुक्यों की आन्तरिक स्थिति भी बड़ी विषम थी। इनका परम्परागत राजनीतिक सुहृद राष्ट्रकूट घराना पतन के गर्त में था अतएव इनकी शक्ति क्षीण हो चली थी। साथ ही पूर्वी चालुक्यों में उत्तराधिकार के लिये दीर्घकालीन विवाद भी चल रहा था। फलतः जब पूर्वी चालुक्यों को राजराज का आधार मिला तो न केवल इनकी आन्तरिक स्थिति में सुधार और दृढ़ता आयी, अपितु समसामयिक राजनीति में प्रतिष्ठा भी बढ़ी। ९९९ ई० के कुछ पहले ही वेङ्गी में राजराज चोल ने अपनी सेना प्रविष्ट करा दी थी और अपने समर्थक शक्तिवर्मन् को वेङ्गी के राजपीठ पर बैठा कर पूर्वी चालुक्यों के उत्तराधिकार सम्बन्धी विवाद को दबा दिया था। शक्तिवर्मन् का प्रतिद्वन्दी जटा चोल भीम था, जो शक्तिवर्मन् और राजराज के विरुद्ध था और सत्याश्रय से मिल चुका था। जटा चोल भीम के कतिपय सेनापति यथा, एकवीर, बद्देम, महाराज राजराज का प्रतिरोध करते हुए आहत हुये और अन्त में भीम भी परास्त हुआ। ९९९ ई० के बाद भी, अर्थात् शक्तिवर्मन् के वेङ्गी में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भी (१००१–१००२ ई०) भीम ने वेङ्गी को द्वितीय बार आक्रान्त किया और शक्तिवर्मन् को राजच्युत किया। किन्तु शीघ्र ही स्थिति सँभल गयी और राजराज ने भीम के प्रभाव को दूर कर शक्तिवर्मन् को राज्यपद पर स्थिर किया। फिर भी शक्तिवर्मन् की राजनीतिक स्थिति निरापद नहीं कही जा सकती, क्योंकि चोलों के बार-बार वेङ्गी हस्तक्षेप से सत्याश्रय बड़ा सशंक था। यद्यपि वह भी बड़ी विषम परिस्थिति में था, क्योंकि उत्तर में उसे परमारों और दक्षिण में चोलों से आशंका बनी रहती थी, फिर भी १००६ ई० के आसपास उसके सामन्त बायलनम्बी ने वेङ्गी को आक्रान्त किया और धरणीकोट यनमदल को भस्मीभूत किया। इसकी परवर्त्ती राजनीतिक परिस्थितियाँ ज्ञात नहीं हैं किन्तु ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि बायलनम्बी का आक्रमण सत्याश्रय की कोई स्थायी उपलब्धि नहीं थी। उसके विपरीत पश्चिमी चालुक्यों की वेङ्गी के प्रति वर्धमान शत्रुता से आशंकित होकर, पूर्वी चालुक्य राजवंश चोलों पर और अधिक निर्भर रहने लगा, तथा धीरे-धीरे वेङ्गी चोलों का एक 'संरक्षित राज्य' ही बन गया। चोल और वेङ्गी के चालुक्य राजघरानों में स्थायी सम्बन्ध की स्थापना के हेतु राजराज ने अपनी पुत्री कुन्दवै का विवाह शक्तिवर्मन् के भ्राता विमलादित्य से कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन गतिविधियों द्वारा राजराज ने उत्तर में अपनी राजसत्ता का विस्तार तुङ्गभद्रा तक कर लिया। इस प्रकार जब सम्पूर्ण दक्षिण भारत उसके आधीन हो गया तो उसने, सम्भवतः शासन के अन्तिम दिनों में, मालदिवे द्वीप समूह को भी अपने विजित के अन्तर्गत किया। अभिलेखीय वृत्तान्त के अनुसार राजराज ने १२००० द्वीपों पर आधिपत्य स्थापित किया जो तथ्य की अतिरञ्जना ही प्रतीत होती है। किन्तु मालदिवे की विजय से एक यह तथ्य अवश्य ही प्रकाश में आता है कि उसकी नौसेना सैनिक दृष्टि से बड़ी प्रबल और पुष्ट थी। एक सुदृढ़ और सन्नद्ध नौसेना की वस्तुतः उसे आवश्यकता भी सदैव बनी रहती थी क्योंकि उसके साम्राज्य की वास्तविक व्याप्ति में उत्तरी लंका का मामुण्डी शोल मण्डलम् जनपद भी था।

इस विशाल साम्राज्य का स्वामी राजराज विविध राजोचित गुणों से भरपूर था। संग्राम और विजयों का क्रम यद्यपि उसके राजत्वकाल में चलता ही रहा किन्तु केवल सामरिक उपलब्धियों पर ही उसकी दृष्टि न रही, सुशासन और प्रजासुखवृद्धि भी उसका लक्ष्य था। उसने वेङ्गी को छोड़ अपने समस्त विजित को अपने प्रत्यक्ष प्रशासन द्वारा सुनियंत्रित किया। वेङ्गी की प्रशासन प्रणाली को भी अप्रत्यक्ष रूप से चोल प्रशासन पद्धति द्वारा प्रभावित किया। केन्द्रीय प्रशासन पद्धति को अति दृढ़ करते हुए भी लोक-शासन तथा स्थानीय स्वायत्त शासन की सुविधा देकर अपनी प्रशासनात्मक समन्वयबुद्धि और सहिष्णुता का परिचय दिया। समस्त कृषिभूमि का मापन करके कर और उत्पादन व्यवस्था को नियंत्रित और व्यवस्थित किया। अतिप्रबल सेना की स्थापना और व्यवस्था द्वारा साम्राज्य की अभिवृद्धि के साथ ही चोल प्रशासन और राजत्त्व को स्थायित्व भी प्रदान किया। वह परम शैव था फिर भी वैष्णव धर्म की अभिवृद्धि के प्रति तनिक भी उदासीन न था। यहां तक कि बौद्ध धर्म के प्रति भी उसकी उदार दृष्टि थी। लाइडन दानपत्र से ज्ञात होता है कि उसने नेगापट्टम् में 'चूड़ामणि विहार' की स्थापना में सहर्ष योगदान किया था। उसकी स्वयं की विशिष्ट कृति तंजोर का शिव मंदिर है, जो न केवल उसकी अपरिमित शिव भक्ति का प्रतीक है अपितु द्रविड मंदिर निर्माण शैली के चूडान्त विकास का द्योतक है।

राजराज के विजयों और व्यक्तिगत गुणों के प्रतीक के रूप में उसकी अनेक उपाधियाँ लोक-प्रसिद्ध थीं यथा, मामुण्डी चोल, जयनगोण्ड, अरुमोलि, चोलेन्द्रसिंह, शिवपादशेखर, क्षत्रियशिखरमणि, जननाथ, निगरिलि शोल,

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चोलमार्तण्ड, राजाश्रय, राजमार्तण्ड, नित्यविनोद, पाण्ड्यकुलाशनि, केरलान्तक, शिगलान्तक, रविकुलमाणिक्य, तेलिङ्गकुलकाल आदि।

राजराज के शासन का अन्त १०१४ ई० में हुआ। किन्तु इसके दो वर्ष पूर्व ही वह अपने पुत्र राजेन्द्र को (१०१२ ई०) युवराजत्व प्रदान कर अपना बोझ हलका कर चुका था। वस्तुतः यह भी उसकी दूरदर्शिता और नीतिमत्ता ही थी कि राजेन्द्र को, जो अपने पिता के साम्राज्य विस्तार में सदा सक्रिय भाग लेता रहा, अपने जीवनकाल ही में प्रशासन की दीक्षा भी दिला दे।

राजेन्द्र चोल

परकेशरीवर्मन् राजेन्द्र चोलदेव प्रथम अपने पिता का योग्य उत्तराधिकारी था। पैत्रिक रूप में उसे एक विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकार मिला जिसके संगठन में सेनापति और दण्डनायक के रूप में उसका भी महत्त्वपूर्ण योगदान था। वह सुनियंत्रित और सुकेन्द्रित सेना तथा प्रशासन का स्वामी था तथा उसके पास अच्छी नौसेना भी थी। इन्हीं सब तत्वों के आधार पर अपने तैंतीसवर्षीय शासन-काल में उसने चोल समृद्धि का चूडान्त विकास किया और भारत के यश को सुदूर पूर्व, यहां तक की चीन तक प्रतिध्वनित किया। उसका शासन न केवल दक्षिण भारत का अपितु भारतीय इतिहास का गरिमामय अध्याय है।

राजेन्द्र के इतिहास के लिये प्रभूत सामग्री उपलब्ध है तथा इसके शासन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का तिथिक्रम अपेक्षाकृत स्पष्ट है। इसके शासनकाल में अनेक शिलालेख प्रकाशित हुये। तिरुवालङ्गाडु और करण्डै (तञ्जोर) दानपत्रों से भी इसका वृत्तान्त स्पष्ट होता है। साथ ही अन्य राजवंशों के आलेखों से भी इसके सम्बन्ध में बातें जानी जाती हैं। इसके अभिलेखों का ऐतिहासिक अंश (तिरुमन्निवलर) बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, जो इसके तीसरे अथवा पांचवें राजत्व वर्ष से शासन के अन्तिम वर्षों तक का ऐतिहासिक वृत्तान्त स्पष्ट करता है। ज्यों-ज्यों राजेन्द्र की राजनीतिक उपलब्धियों में वृद्धि होती जाती थी, इसके नाम के साथ उपलब्धि-सूचक अन्य राजनीतिक उपाधियाँ भी जुड़ती जाती थीं। इस तरह का क्रम उसके शासन के तेरहवें वर्ष तक चला। उसके राजत्व के शेष वर्षों में ये उपाधियाँ रूढ़ि हो गयीं। तीसरे राजत्व वर्ष से तेरहवें राजत्व वर्ष तक उपाधियों के विवर्धमान क्रम से यह जानना भी सरल है कि उसकी राजनीतिक और सामरिक उपलब्धियों का क्रम क्या था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजेन्द्र ने अपने शासन के प्रारम्भ में ही अर्थात् सातवें राजत्व वर्ष में (१५ मार्च और ३ दिसम्बर १०१८ ई० के बीच में कभी) अपने पुत्र राजाधिराज को युवराज नियुक्त कर दिया था। इस तिथि से अगले पचीस वर्षों तक राजाधिराज राजकेशरी अपने पिता राजेन्द्र परकेशरी का सहयोगी रहा। इस अवधि में उसके द्वारा भी कुछ अभिलेख प्रकाशित किये गये जो राजेन्द्र के अभिलेखों से ज्ञात तथ्यों की न केवल सम्पुष्टि करते हैं अपितु वे पूरक भी हैं। राजेन्द्र के इतिहास के लिये 'महावंश' का भी अध्ययन उपादेय है क्योंकि राजेन्द्र के लंका-अभियान का जो विवरण उसके अभिलेखों से ज्ञात है उसकी सटीक पुष्टि 'महावंश' के कतिपय उद्धरणों से होती है।

राजेन्द्र के आरम्भिक विजयों के रूप में ऐसा उल्लेख है कि उसने इडितुरैनाडु, बनवास, कोल्लिप्पाक्के और मण्णैक्कडक्कम् का विजय किया। इडितुरै नाडु, कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों की दक्षिणी घाटी में था। कोल्लीप्पाक्कै हैदराबाद के दक्षिण में स्थित कुलप से तुलनीय है। बनवास की पहचान बनबासी से और मण्णैक्कडक्कम् की पहचान मान्यखेट अथवा मालखेडु से की जा सकती है। ये सभी विजित सत्याश्रय के साम्राज्य के अङ्ग थे जिसने १००८ ई० तक शासन किया। ऐसी स्थिति में यह अनुमान करना ठीक है कि इन प्रदेशों को १००८ ई० के पूर्व ही जीत लिया। किन्तु यह कहना कठिन है कि ये सामरिक उपलब्धियाँ चालुक्यों के विरोध में किये गये उसके द्वितीय अभियान के प्रतिफल स्वरूप थीं अथवा इस प्रसंग में उन्हीं उपलब्धियों की चर्चा कर दी गयी है जो कि हिट्टूर अभिलेख में राजराज के प्रसंग में वर्णित हैं। चूँकि इस अभियान में भी (१००३-१००६ के बीच) राजेन्द्र का ही प्रमुख हाथ था, अतएव अपने स्वामी की गौरवगाथा की पुनरावृत्ति करने के लिये सम्भव है, प्रशस्तिकार ने हिट्टूर अभिलेख का, जो कि १००७ ई० का है, विवरण पुनः कर दिया हो। वैसे इसकी भी सम्भावना है कि चूंकि १००७ ई० के बाद सत्याश्रय ने अपनी परिस्थिति में सुधार कर लिया था और चोलों का उत्तर की तरफ का बढ़ाव रोक दिया था, अतएव परिस्थिति अनुकूल होने पर १००८ ई० के आसपास राजेन्द्र ने पुनः एक अन्य अभियान करके सत्याश्रय से ये प्रान्त छीन लिये हों। जो भी हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि १००८ ई० के लगभग उपरोक्त प्रदेश चालुक्यों के हाथों से राजेन्द्र चोल ने छीन लिये थे।

शासन के पाँचवें वर्ष में (१०१७-१८ ई०) राजेन्द्र ने सम्पूर्ण ईलमण्डलम्

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(लंका) पर विजय प्राप्त किया। 'महावंश' के अनुसार इस समय लंका का राजा महिन्द (महेन्द्र पंचम) था और उसके छत्तीसवें राजत्व वर्ष में राजेन्द्र चोल का अभियान लंका पर हुआ था। इस अभियान का सामना इस बार लंका का राजा न कर सका और बुरी तरह पराजित और अपमानित हुआ। करण्डै अभिलेख तथा अन्य अभिलेखों का विवरण है कि राजेन्द्र ने लंका के राजा को हरा कर 'उसका मुकुट, उसकी रानियां और कन्याएं, तथा उनके सुन्दर और बहुमूल्य रत्न, प्रभूत वैभव, तथा सम्पूर्ण लंका को अधिकृत कर लिया साथ ही लंका के राजा से वह मुकुट और इन्द्र माला भी हस्तगत कर ली जिसे वरगुण पाण्ड्य ने अपनी विपन्नावस्था के कारण धरोहर के रूप में लंका के राजा के पास रख दी थी। पराजित होने पर लंका का राजा महेन्द्र राजेन्द्र के शरणापन्न हुआ। 'महावंश' का विवरण इस अभिलेखीय कथन का पूर्णतया समर्थन करता है। इसके अनुसार 'चोलों ने राजा के (महेन्द्र पंचम) छत्तीसवें राजत्व वर्ष में आक्रमण करके राजा की महिषी, रत्न, आभूषण, मुकुट, खड्ग आदि छीन लिया। राजा, जो जंगलों की ओर भाग गया था, चोलों के द्वारा पकड़ा गया और उसे प्रभूत धन के साथ, चोल सैनिकों ने राजेन्द्र के हवाले किया।

इस प्रकार राजेन्द्र का अधिकार समस्त लंका पर स्थापित हो गया। इस आक्रमण से लंका के बौद्ध विहारों को बड़ी क्षति पहुंची। किन्तु चोलों ने लंका में यत्र तत्र कई शिव और विष्णु मंदिर स्थापित किये।

राजराज ने अपने शासन के आरम्भिक वर्षों ही में पाण्ड्य और केरल जनपद पर अधिकार कर लिया था। सम्भवतः इस क्षेत्र पर अपने प्रभुत्व के स्थायित्व के लिये राजेन्द्र को भी युद्ध करना पड़ा था यद्यपि यह क्षेत्र साम्राज्य का अङ्ग बन चुका था। १०१८ ई० के आसपास अर्थात् अपने शासन के छठे वर्ष में उसने केरल तथा उसके आसपास के द्वीपों को (जिसमें मालदिवे प्रमुख था) जीतकर पाण्ड्य जनपद को आधीन किया और वहाँ अपने पुत्र जटावर्मन् सुन्दर चोल को उपराजा नियुक्त किया। जटावर्मन् सुन्दर चोल इन जनपदों पर उपराजा या युवराज के रूप में १०१८ ई० से १०४० ई० तक अर्थात् बाइस वर्षों तक प्रशासन करता रहा।

१०२१ ई० के लगभग चालुक्य-चोल संघर्ष पुनः तीव्र हो उठा। इस बार चालुक्यों के विरुद्ध राजेन्द्र चोल ने दोहरा मोर्चा खोल दिया। एक तो पश्चिम की तरफ मान्यखेट को ध्येय मान कर और दूसरा पूर्व की तरफ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुङ्गभद्रा और वेङ्गी को लक्ष्य करके। राजेन्द्र चोल की नीति थी कि दो मोर्चों में फँसा कर तत्कालीन चालुक्य नृप जयसिंह की शक्ति को विकेन्द्रित कर दे और दोनों ही दिशाओं में अपने साम्राज्य का विस्तार करे। समकालीन अभिलेखों में इस संघर्ष का विवरण प्रस्तुत है, किन्तु उनका स्वरूप अलंकारिक और विरुदात्मक अधिक है, तथ्यात्मक कम। फिर भी तुलनात्मक अध्ययन से समसामयिक राजनीति की झांकी इन अभिलेखों से प्राप्त करना सरल ही है।

विक्रमादित्य पंचम चालुक्य राजपीठ पर १०१६ ई० के आसपास आसीन हुआ। वेलगाम के अभिलेख में जो १०१९ ई० में प्रकाशित हुआ था, चालुक्यों की चोलों के विरुद्ध सफलता का बड़ा मुखर विवरण प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार चालुक्यों ने चेरों और चोलों को पराजित किया। जयसिंह के कुछ अभिलेख पश्चिमोत्तर मैसूर और वेलारी जिले में प्राप्त हुये हैं, जो उसके इस क्षेत्र में स्थापित प्रभुत्व के द्योतक हैं। इसके विपरीत चोल अभिलेखों में राजेन्द्र की सफलता का ऊहापोह वर्णन है। उसके कतिपय अभिलेखों के तमिल अंश में ऐसा वर्णन आता है कि मुशङ्गि के युद्ध में पराजित होकर जयसिंह पलायित हो गया और सम्पूर्ण रट्टपाडि पर राजेन्द्र की स्वायत्तता स्थापित हो गयी। निस्संदेह इस विवरण में अतिरेकता है। प्राप्त अभिलेखीय प्रमाणों से यह संकेत मिलता है कि यद्यपि मुशङ्गि के रणस्थल में जयसिंह को मुँह की खानी पड़ी किन्तु फिर भी जयसिंह के अधिकार में कम से कम तुङ्गभद्रा के उत्तर तक का हिस्सा सुरक्षित रहा। मिरज दानपत्र के अनुसार जयसिंह का अधिकार इडेडोर पर भी बना रहा और इस क्षेत्र से 'पंचद्रविडों' के स्वामी चोल नृप को निष्कासित करने में उसे सफलता मिली।

चोल-चालुक्य संघर्ष का अतिप्रखर रूप वेङ्गी के प्रश्न को लेकर हुआ। १०१९ ई० में विमलादित्य के, जो शक्तिवर्मन् प्रथम का उत्तराधिकारी था, शासन का अन्त हुआ। विमलादित्य के दो रानियों से दो पुत्र थे। राजराज (इसकी माता कुन्दवै चोल कन्या थी) और विष्णुवर्धन विजयादित्य (सप्तम)। समसामयिक राजनीति के चक्र में पड़ कर चालुक्य नृप जयसिंह ने विजयादित्य का समर्थन किया और राजराज के उत्तराधिकार का विरोध। राजराज को जयसिंह ने अभिषिक्त न होने दिया अतएव राजराज ने राजेन्द्र से सहायता की याचना की। अनन्तपुर जिले के कोट्टशिवराम नामक स्थान से प्राप्त कतिपय कन्नड और तमिल अभिलेख इस आशय की सूचना देते हैं कि राजेन्द्र ने अपने दशवें राजत्व वर्ष में वेङ्गी के राजराज की सहायता के लिये अपने सेनापति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अरैयन राजराजन् को, जिसका नाम विक्रम चोल चोलियं वरैयन् भी था, भेजा। इसने जयसिंह और उसके द्वारा समर्थित विजयादित्य को पराजित कर 'नालमडि भीम, चोलन् चक्र, जयसिंहकुलकाल' आदि उपाधियों से अपने को अलंकृत किया। अन्य अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि इसने वेङ्गी के विजयादित्य तथा चालुक्य जयसिंह के साथ ही साथ कालिङ्गों, ओड्डों और तेलुङ्गों को भी पराजित किया। सम्भवतः ये राज्य जयसिंह और विजयादित्य के समर्थक और चोलों तथा राजराज के विरोधी थे।

इसके बाद विक्रम चोल को राजेन्द्र ने पूर्वी भारत की ओर भेजा। स्वयं पार्श्वपक्ष संभालने के लिये गोदावरी तक बढ़ आया और इसके आगे अभियान के लिये अपने सेनापति को भेज दिया। तिरुवालङ्गाडु अभिलेख के तमिल अंश में इस अभियान का विस्तारपूर्वक वर्णन है। पहले विक्रम चोल ने शक्करक्कोट्टम् को जीता। इसकी भौगोलिक स्थिति आधुनिक बस्तर में थी और इसकी पहचान नागदेशीय राजाओं के चक्रकोट्य (चित्रकोट) से की जा सकती है। इन्हीं नागवंशियों से ही सम्बन्धित मशुनिदेश था जो विक्रमचोल द्वारा प्रताड़ित हुआ। इन दोनों ही जनपदों की स्थिति वेङ्गी के आस-पास होने से, समसामयिक राजनीतिक गतिविधि में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। मुशुनिदेश के अन्तर्गत या इसी के सान्निध्य में मदुरमण्डलम, नामणैक्कोणम् और पञ्चपल्लि की भी स्थिति थी। ये सभी राज्य विक्रम चोल द्वारा पराजित हुये। तदुपरान्त इन्द्ररथ, जो चन्द्रवंशीय थे, आदिनगर के युद्ध में परास्त हुये और फिर विक्रम चोल ने कोशलनाडु (= दक्षिण कोशल) और ओड्ड (उड़ीसा) को भी आधीन किया।[1] इसके बाद विक्रम चोल के अभियान का वर्णन-क्रम विभिन्न अभिलेखों में कई तरह से आया है। तमिल अभिलेखों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि उसने पहले उड़ीसा और बंगाल के बीच स्थित दण्डभुक्ति को आक्रान्त किया और इसके स्वामी धर्मपाल को आधीन किया। तदुपरान्त उसने रणशूर, गोविन्दचन्द्र को पराजित किया। ये दोनों बंगाल के साधारण सामन्त राज्य प्रतीत होते हैं। गोविन्द चन्द्र को तिरुवालङ्गाडु के तमिल अंश में बंगाल जनपद का नृप बताया गया है। किन्तु उन दिनों बंगाल महीपाल के आधीन था। विक्रमचोल ने गोविन्द को पराजित करने के बाद महीपाल को

१. विजय-वर्णन क्रम में पहले ओड्ड का नाम है, तदुपरान्त कोशलनाडु की चर्चा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी पराजित किया। इसके बाद उसका धावा उत्तरी राढ़ पर हुआ। यह भी बंगाल का एक हिस्सा ही था और इसकी उत्तरी सीमा गंगा से निर्धारित होती थी। विक्रम चोल गंगा नदी तक पहुँचा और वहां से जल लेकर वापस हुआ। अभिलेखीय भाषा में ऐसा उल्लेख है कि इस गंगाजल को बंगाल के नृप-गण ढोकर चोलों की राजधानी तक लाये। राजेन्द्र चोल ने इस गंगाजल को नवनिर्मित तड़ाग 'चोलगंगम्' में संग्रहीत किया और स्वयं 'गंगैकोण्डचोल' की उपाधि से लोकविश्रुत हुआ।

चोलों के इस पूर्वी भारत-अभियान के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान तो इसे अभिलेखकार की मिथ्या जल्पना मानते हैं और कुछ यथा, वेङ्कैया, इसे चोलों की तीर्थयात्रा, जिसका उद्देश्य गंगाजल लाना मात्र था, सिद्ध करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तिरुवालङ्गाडु अभिलेख का यह अंश ऊहापोह से भरपूर है और साधारण तथ्यों को भी असाधारण तथ्य के रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु राजेन्द्र द्वारा इस नियोजित अभियान की ऐतिहासिकता भी असन्दिग्ध है। केवल गंगाजल ले आने के लिए इतनी बड़ी सेना और विक्रम चोल जैसा दण्डनाथ नहीं भेजा गया होगा। वस्तुतः इस अभियान का उद्देश्य उत्तरी-भारत के राजाओं पर चोल सैनिक-शक्ति और ऐश्वर्य का प्रदर्शन था। दक्षिणापथ के राजाओं के लिये उत्तरी भारत में धावे देना अथवा शक्ति-प्रदर्शन करना एकआम बात थी। राजेन्द्र चोल ने, जिसकी विजयदुन्दुभि से सम्पूर्ण दक्षिण भारत और दक्षिणापथ ही नहीं अपितु आसपास के द्वीप और सिंहल का राजनीतिक वातावरण उद्घोषित हो चुका था, यह ठीक ही समझा कि वह उत्तरी भारत की राजनीति में भी पदार्पण करे और सम्पूर्ण भारत को अपनी धाक से प्रभावित करे। यह अभियान वस्तुतः उसके दिग्विजय कार्यक्रम का अङ्ग था, जिसका उद्देश्य उत्तरी भारत में चोल राज्य की स्थापना नहीं अपितु उसके साम्राज्यवादी शक्ति और क्षमता का प्रदर्शन था। इस अभियान को परिणाम, स्वरूप और उद्देश्य की दृष्टि से हम सदियों पूर्व घटित समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ-अभियान का जवाब भी समझ सकते हैं। समुद्रगुप्त के भी दिग्विजय का उद्देश्य दक्षिणभारत में गुप्तसाम्राज्य का संस्थापन नहीं अपितु गुप्त-शक्ति और क्षमता का राजनीतिक प्रदर्शनमात्र था। राखालदास बनर्जी के अनुसार उड़ीसा और बंगाल में राजेन्द्र चोल के अभियान का कुछ स्थायी प्रभाव भी पड़ा। चोल सेना के कुछ सामन्त पश्चिमी बंगाल में बस गये जो कालान्तर में सेनवंश के संस्थापक के रूप में प्रसिद्ध हुये। इसी प्रकार मिथिला में भी 'करण्ट-जाति' का विकास हुआ,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिनका सम्बन्ध राजेन्द्र चोल के किसी करण्ट सामन्त से प्रतीत होता है। 'सिद्धान्त सारावली' के लेखक शिवाचार्य त्रिलोचन का उल्लेख है कि राजेन्द्र चोल ने गंगातट के कुछ शैव विद्वानों को काञ्चीपुरम् में बसाया था, जो इसी अभियान का एक सांस्कृतिक परिणाम समझा जा सकता है। इस अभियान की सफलता के उपलक्ष में उसने एक तड़ाग निर्मित कराया और उसमें सैनिकों द्वारा लाया गया गंगाजल डलवाया। तदुपरान्त उसने 'गङ्गैकोण्ड' की उपाधि धारण की। उसने उत्तरी अर्काट में (तिरुचिर पल्ली जिले में) गंगैकोण्ड 'चोलपुरम्' नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया।

तिरुवालङ्गाडु अभिलेख में कडारम्-विजय (१०२५ ई०) की संक्षिप्त चर्चा है। इसके अनुसार चोल सैनिकों ने समुद्र पार कर कटाह द्वीप का विजय किया। किन्तु अन्य अभिलेखों की तमिल प्रशस्ति में कडारम्-अभियान का अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इसके अनुसार चोल सैनिकों ने कडारम् नगर के विद्याधर तोरण को ढहा दिया और वहां के राजा संग्राम विजयोतुङ्ग वर्मन् को बन्दी बना लिया और उसके प्रभूत वैभव तथा हस्ति सेना को अधिकृत कर लिया। इसी विजय क्रम में चोल सैनिकों ने श्री विजय पन्नै, मलैयूर, माइरुडिङ्गम्, इलङ्गाशोकम, मापप्पालम, तलैत्तक्कोलम्, मादमालिङ्गम, इलामुरिदेशम् और नक्कवारम् का भी विजय किया। यदि इन विजयों के संदर्भ में अभिलेखकीय वृत्तान्त की सम्यक् विवेचना की जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इन स्थानों के विजय के उपरान्त अन्त में कडारम् का विजय किया। विद्वानों में इन स्थानों के पहचान के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। आरम्भ में तो इन समस्त नगर और जनपदों की खोज मदुरा के आसपास तक ही सीमित थी। किन्तु कालान्तर के शोधों का परिणाम वास्तविकता के निकट पहुंचने लगा। सम्प्रति कोयेड्स महोदय का शोध ही प्रामाणिक है। इनके शोध के आधार पर यह निश्चित होता है कि चोलों ने सर्वप्रथम श्री विजय को अधिकृत किया जिसकी पहचान सुमात्रा के पलेमबंग से करना उचित है। पन्नै की पहचान सुमात्रा के तट पर स्थित आधुनिक पनै नगर से की जा सकती है। मलैयूर जनपद आधुनिक मलय प्रायद्वीप का दक्षिणतम भाग था तथा माइरुडिङ्गम् की स्थिति मध्य मलय प्रायद्वीप में थी। माइरुडिङ्गम् ही 'चाऊ जु कुआ' का जी लो सिंग प्रतीत होता है जो प्राचीन श्री विजय का ही एक सामन्त-राज्य था। मलय प्रायद्वीप के केदह राज्य में इलङ्गाशोकम् की भौगोलिक स्थिति थी,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसकी पहचान 'चाऊ जू कुआ' के लिङ्ग-या-स्स्यु—किया से भी की जा सकती है। मापप्पालम् की स्थिति आधुनिक 'इस्थमस आफ क्रा' में थी और इसी स्थान के दक्षिण में तकुप के आसपास तलैत्तक्कोलम् भी था। तलैत्तक्कोलम् का उल्लेख 'मिलिन्द पञ्हो' और टालेमी के भूगोल में तक्कोल नाम से आया है। मादमालिङ्गम् 'चाउ जु कुआ' के तन्-मलिङ्ग (= ताम्रलिङ्ग) से तुलनीय है और यह मलय प्रायद्वीप के उरु या उस भाग में स्थित था जो श्याम द्वीप के सम्मुख है। इलामुरिदेशम् की स्थिति सुमात्रा द्वीप के उत्तरी भाग में थी और नक्कवारम् अथवा मानक्कवारम् नीकोबार द्वीप से तुलनीय है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि इन विजयों द्वारा चोल सैनिकों ने सुमात्रा के श्री विजय-साम्राज्य तथा उसके उन सामन्त राज्यों को अधिकृत किया जिनकी स्थिति मलय प्रायद्वीप और आर्किपेलगो में थी। किन्तु इन समस्त राज्यों का शक्तिशाली गढ़ कडारम् में स्थित था। कडारम् को संस्कृत साहित्य और अभिलेखों में कटाह कहा गया है। आधुनिक केडह से प्राचीन कटाह अथवा कडारम् की पहचान करना उचित है। केडह भारत और सुदूरपूर्व के समुद्री पथ का महत्त्वपूर्ण पत्तन था, और राजनीतिक दृष्टि से श्री विजय-साम्राज्य का ही अङ्ग था।

चोल और श्रीविजय साम्राज्य में व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का इतिहास प्राचीन है। राजेन्द्र चोल के इस अभियान का कोई तात्कालिक कारण बताना तो कठिन है किन्तु अनुमानतः उसका यह अभियान भारत और पूर्वी द्वीपसमूह के व्यापारिक पथों की सुरक्षा के उद्देश्य से था। इन दिनों (१००० ई० के आसपास) अरब और चीन के व्यापारी भी पूर्वी द्वीपसमूह के व्यापार में रुचि ले रहे थे और क्रमशः व्यापारिक एकाधिकार के लिए प्रयत्नशील थे। सम्भवतः कडारम् और श्रीविजय को भारत के प्रति एकनिष्ठ बनाये रखने के लिये ही राजन्द्र चोल का यह अभियान आयोजित हुआ था।

करण्डै (तञ्जोर) दानपत्र से यह पता चलता है कि राजेन्द्र के कडारम् अभियान से प्रभावित होकर कम्बुज नरेश ने अपनी राज्यलक्ष्मी की रक्षा के लिये राजेन्द्र चोल से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। कम्बुज देश अङ्कोर सहित आधुनिक कम्बोडिया था।

मुशंगी संग्राम (१०२१ ई०) के बाद कुछ दिनों तक वेङ्गी की स्थिति पर राजेन्द्र चोल का नियंत्रण बना रहा। किन्तु राजराज नरेन्द्र के प्रतिद्वन्दी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विष्णुवर्धन विजयादित्य सप्तम और जयसिंह शान्त न बैठे रहे और वेङ्गी से राजराज को हटाने के लिये प्रयत्नशील बने रहे। १०४२ ई० के कुछ पूर्व ही, जो कि जयसिंह द्वितीय और राजेन्द्र चोल के शासन का भी प्रायः अन्तिम चरण था, चालुक्य और चोल सम्बन्धों में पुनः प्रत्यक्ष संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। जयसिंह द्वितीय ने १०२१ ई० के बाद क्रमशः अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे तुंगभद्रा को पार कर वेलारी जिले के कुछ हिस्सों को अधिकृत कर लिया। १०३३ ई० के आसपास चालुक्यों के सामरिक अभियानों से तुंगभद्रा के नीचे वेलारी तक का हिस्सा चोलों के चंगुल से मुक्त हो गया और जगदेकमल्ल उदयादित्य नोलम्ब पल्लव पेरुमानडी, जो चालुक्यों का एक सामन्त था, नोलाम्बपाडि पर शासन करने लगा था। जयसिंह द्वितीय के बाद चालुक्य राजपीठ पर त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम आसीन हुआ। इसने भी चोलों के विरुद्ध परम्परागत शत्रुता की नीति का परिपालन किया और वेङ्गी को हस्तगत करने की चेष्टा में लगा। राजेन्द्र चोल ने सोमेश्वर के बढ़ाव को रोकने के लिये राजाधिराज को वेङ्गी भेजा। चोल अभिलेखों में राजाधिराज के प्रस्तुत अभियान की सफलता का बड़ा मुखर उल्लेख है। इनके अनुसार चोल सैनिकों ने दन्नाड (धान्यकटक) के युद्ध में चालुक्य सेना को पराजित किया। इस संग्राम में सुप्रसिद्ध चालुक्य सेनानी गण्डप्परथ और गंगाधर मारे गये तथा विक्की और विजयादित्य पलायित हुये। विक्की सोमेश्वर प्रथम का पुत्र था जो कालान्तर में विक्रमादित्य षष्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विजयादित्य वेङ्गी राजपीठ का प्रतिस्पर्द्धी और राजराज नरेन्द्र का सौतेला भाई था। किन्तु इस तथाकथित सफलता के बावजूद चालुक्यों की वेङ्गी के क्षेत्र में सक्रियता अनियंत्रित रही। १०४४ ई० के आसपास वेङ्गी पर चालुक्य नरेश सोमेश्वर का पूरा प्रभाव था। इस समय उसका एक सामन्त, जिसका नाम सोभनरस था, अपने को 'वेङ्गीपुरेश्वर' की उपाधि से विभूषित करता है। १०४७ ई० के एक अन्य अभिलेख में इस आशय का कथन है कि उसने वेङ्गी और कलिङ्ग का विजय किया। किन्तु यह भी आश्चर्य का विषय है कि ठीक इसी समय (१०४७ ई०) का एक अन्य अभिलेख भी उपलब्ध है जिसमें राजराज अपने को वेङ्गी का स्वामी कहता है। ऐसा अनुमान करना उचित है कि इस समय के लगभग कतिपय अज्ञात राजनीतिक कारणों से राजराज ने चोलों की मैत्री का परित्याग कर दिया और वह सोमेश्वर का मित्र बन बैठा। शायद उसने सोमेश्वर के प्रति औपचारिक आधीनता स्वीकार कर ली थी अतएव एक ही समय में वेङ्गी के स्वामित्व का प्रमाण एक साथ राजराज और सोमेश्वर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोनों के ही अभिलेखों में पाते हैं। दोनों राजवंशों में अर्थात् वेङ्गी और पश्चिमी चालुक्यों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया जिससे चोलों को वेङ्गी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर भी दुर्लभ हो गया। सम्भवतः स्वयं राजेन्द्र के उत्तराधिकारी राजाधिराज को भी वेङ्गी की राजनीति में कम रुचि थी।

राजेन्द्र के राजत्व के अन्तिम वर्षों में साम्राज्य में कई जगह विद्रोह और उपद्रव होने लगे थे। पाण्ड्य और केरल में चोलों के शासन के विरुद्ध गहरी प्रतिक्रिया हुई और पाण्ड्य तथा केरल ने समवेत चोल शासन के प्रति विद्रोह कर दिया। विद्रोह का नेतृत्व सुन्दर पाण्ड्य कर रहा था। इसके विद्रोही सहायक कई सामन्त थे, जिनमें चेर और वेनाड तथा कूपक (ट्रावंकोर के दक्षिण में) के सामन्त प्रमुख थे। किन्तु पाण्ड्यादि राजाओं का यह सामरिक संघ असफल और विघटित हुआ और राजाधिराज ने इन जनपदों पर चोल सत्ता अक्षुण्ण रखी। इसी प्रकार १०२९ ई० में लंका के चोल-शासनक्षेत्र में भी स्वाधीनता का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। यह संघर्ष दीर्घकालीन रहा। राजाधिराज को युवराज के रूप में इस आन्दोलन को नियंत्रित करने में तात्कालिक किन्तु आंशिक सफलता मिली। लंका का राजा मारा गया किन्तु वहाँ की अशान्ति धीरे-धीरे बढ़ती ही गयी।

फिर भी राजेन्द्र के जीवनकाल में चोल साम्राज्य अचल रहा और राजनीतिक युद्धों को छोड़, शेष सर्वत्र शान्ति रही। अपने बत्तीस वर्षीय शासन-काल में इसने चोल साम्राज्य का चूडान्त विकास किया और चोल समृद्धि को अक्षुण्ण रखा। उसका साम्राज्य इतना विस्तृत हो चुका था कि उसकी सुरक्षा के लिये कहीं न कहीं युद्ध चलते रहना अपरिहार्य सा हो गया था। युद्ध में निश्चित ही वह प्रचण्ड नीति अपनाता था; यहाँ तक कि कतिपय चालुक्य संग्राम में वह सामान्य नैतिक नियमों के परिपालन का भी ध्यान न रख पाता था और स्त्री, वृद्ध, ब्राह्मण तक को अपमानित, आहत और भ्रष्ट किया करता था। किन्तु सामान्य प्रशासन में उसे प्रजासुख का ही ध्यान अधिक रहता था। सीमान्त राज्यों, यथा पाण्ड्य और केरल में भी, सामान्य और असैनिक प्रजा के साथ वह बहुत कड़ाई के नीति का अनुसरण न करता था। इससे कभी-कभी दूरस्थ प्रान्तों में विद्रोह की आशंका उत्पन्न हो जाती थी।

राजेन्द्र की समस्त उपलब्धियों को हम उसके चार विरुदों के माध्यम से जान सकते हैं। ये चार विरुद थे, 'मुडिकोण्ड' 'गङ्गैकोण्ड', 'कडारङ्गोण्ड'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और 'पण्डितचोल'। 'मुडिकोण्ड' से उसके पाण्ड्य, केरल और सिंहल के अधिपतित्व की सूचना मिलती है। 'गङ्गैकोण्ड' की उपाधि में उसके वेङ्गी, ओड्ड (उड़ीसा) और गंगा (बंगाल) तक के विजयों की ध्वनि है तथा 'कडारङ्गोण्ड' उपाधि उसके कटाह द्वीप के विजय का प्रतीक है। 'पण्डितचोल' में उसके उन कार्यों की ध्वनि थी जो उसने विद्या और कला को समुन्नत करने के लिये किया था। वह स्वयं भी विद्याव्यसनी और कलानुरागी था। उसने अपने समय की वास्तु और मूर्ति-कला को बड़ी संरक्षकता दी।

राजेन्द्र प्रथम के बाद उसके तीन पुत्र क्रमशः एक के बाद एक चोल राजपीठ पर आसीन हुये। १०१८ ई० में युवराज की हैसियत से राजाधिराज राजेन्द्र प्रथम का सहयोगी बना था। पूर्णरूप से चोल राजत्व का अधिकारी वह राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु के बाद, १०४४ ई० में बना और १०५२ ई०[1] तक शासन करता रहा।

(१०२९ ई० ही से लंका में चोलशासन के विरुद्ध संघर्ष चलने लगा था। युवराज के रूप में राजाजिराज ने इस विद्रोह के दमन की सफल चेष्टा की थी। किन्तु तात्कालिक सफलता चिरस्थायिनी न रही। राजत्व-प्राप्ति के उपरान्त भी चोल नरेश को लंका की समस्या का सामना करना पड़ा। राजाधिराज ने बड़ी क्रूरता से लंका-विद्रोह का दमन किया। उसके अभिलेखों से पता चलता है कि उसने न केवल लंका के राजा वीरसलामेघन को पराजित किया और उसका मुकुट छीना अपितु उसकी बड़ी बहिन और पत्नी को अपहृत किया। राजमाता की नाक भी चोल सैनिकों ने काट ली। इस प्रकार उसने अपना प्रभाव लंका पर स्थापित किया। लंका से प्राप्त उसकी मुद्राओं तथा कतिपय अभिलेखों से इसका पूर्ण प्रमाण मिलता है कि उसने उत्तराधिकार में प्राप्त लंका का साम्राज्य अपनी शासन-अवधि में सुरक्षित रखा। 'महावंश' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है यद्यपि उसके लंकावृत्तान्त से इसकी भी ध्वनि मिलती है कि अपहृत और अपमानित होने पर भी लंका के राजवंश में लंका के चोल शासन की प्रतिक्रिया होती रही। रोहण क्षेत्र में (लंका में) चोलों के विरोधी तत्त्व संगठित होते रहे और समय-समय पर लंका को स्वतंत्र करने

१. कुछ अभिलेखों के आधार पर उसके शासन की अन्तिम तिथि १०५३-५४ ई० तक प्रमाणित होती है। लेकिन राजेन्द्र द्वितीय के शासन के समारम्भ का समय भी १०५२ ई० ही ठहरता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की चेष्टा करते रहे। यह स्वतंत्रता आन्दोलन वस्तुतः विक्रमबाहु प्रथम के समय तक अर्थात् १०७० ई० तक संचालित रहा और जब चोलों की शक्ति कुलोतुङ्ग प्रथम के शासन-काल में तनिक निर्बल हुई तो लंकावासियों का स्वतंत्रता-प्रयास विक्रमबाहु के नेतृत्व में सफल हुआ।

१०४४ ई० और १०४६ ई० के बीच में राजाधिराज को सोमेश्वर प्रथम के साथ भी युद्ध करना पड़ा। इस बार चोल और चालुक्यों में विकट संघर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसने दोनों ही दलों को भीषण रूप से क्षतिग्रस्त किया।

मणिमंगलम् अभिलेख, जो १०४६ ई० में प्रकाशित किया गया, के अनुसार चोल नरेश राजाधिराज ने लड़ाई शुरू की और उसने चालुक्यों को आक्रान्त कर उनके अनेक सामन्तों को पराजित किया। चालुक्यों के दुर्ग कम्पिली को ध्वस्त कर दिया। कम्पिली के अतिरिक्त एक अन्य युद्ध में भी (युद्धस्थल आदि का विवरण ज्ञात नहीं है) चालुक्यों की हार हुई, तदुपरान्त पूण्डर में, जो कृष्णा 'नदी' पर स्थित चालुक्यों की सैनिक छावनी थी, चालुक्यों और चोलों में गहरा संघर्ष हुआ। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप सोमेश्वर प्रथम के कतिपय तेलुगु सामन्त, जिनमें तेलिंग विक्कय प्रमुख था, परिवार सहित बन्दी बना लिये गये। चोलों ने पूण्डर नगर को ध्वस्त करके, उसे जोत कर वहाँ ज्वार बुआ दिया। इस अभियान के संदर्भ में चोलों और चालुक्यों का संघर्ष मड्न्दिप्पै में भी हुआ। यहाँ स्थित चालुक्यों का राजमहल भस्मीभूत कर दिया गया और इस विजय के उपलक्ष में यहाँ एक विजयस्तम्भ स्थापित किया गया। पूण्डर और मड़न्दिप्पै का पतन सम्भवतः १०४८ ई० के पूर्व ही हुआ। इसी तरह चालुक्य चोलों से पूण्डी के युद्ध में भी पराजित हुये। इस युद्ध में आहवमल्ल (सोमेश्वर प्रथम) संग्राम से पलायित हो गया, उसके कतिपय सामन्त यथा नुलम्ब, कालिदास, चामुण्ड, कोम्मय और विल्लराज मारे गये तथा सोमेश्वर के राजदूतों को, जो सन्धि का प्रस्ताव लाये थे, अपमानित किया गया। तदुपरान्त कल्याणपुर को ध्वस्त कर राजाधिराज ने वीराभिषेक किया और 'विजयराजेन्द्र' की उपाधि धारण की।

यह सारा वृत्तान्त चोलों के ही विभिन्न अभिलेखों से उपलब्ध है। चालुक्यों के अभिलेख में इस अभियान अथवा चालुक्यों के पराजय की कोई चर्चा नहीं है। इसके विपरीत उनके अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों से इसी बात का संकेत मिलता है कि चालुक्यों का साम्राज्य अक्षुण्ण रहा और उनका साम्राज्य तुगंभद्रा तक फैला रहा। यहां तक कि बेलारी के आसपास से भी (हडगल्ली से)

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रैलोक्यमल्लदेव (सोमेश्वर प्रथम) के लेख उपलब्ध हुये हैं, जो १०४७ ई० के हैं और जो इस क्षेत्र में उसके राजत्व और प्रशासन की प्रामाणिक सूचना प्रस्तुत करते हैं। इस क्षेत्र से उपलब्ध कतिपय अन्य अभिलेख भी उपलब्ध हैं, जो तुङ्गभद्रा के दक्षिण में, वेलारी क्षेत्र में उसके राजत्व के प्रमाण हैं। मुलगुण्ड अभिलेख (१०५३ ई० में प्रकाशित) के अनुसार वेङ्गी पर भी सोमेश्वर का व्यापक राजनीतिक प्रभाव और नियंत्रण था।

इन दो विरोधी प्रमाणों के आधार पर तत्कालीन राजनीतिक वस्तुस्थिति के विषय में कुछ कहना कठिन है। किन्तु चोल और चालुक्य अभिलेखों की सम्यक् तुलनात्मक विवेचना के बाद यह मानना उचित है कि यद्यपि चोलों ने प्रस्तुत अभियान से चालुक्य नगरों और उनकी सैनिक शक्ति को काफी क्षति-ग्रस्त किया, और उनको चालुक्यों के विरुद्ध कई मोर्चों पर सफलता मिली किन्तु उनके इस अभियान का कोई स्थायी परिणाम न हुआ। उनका आक्रमण चाहे कितना ही प्रभावशाली क्यों न रहा हो, वस्तुस्थिति की दृष्टि में एक धावा ही था, जिसका परिणाम और प्रभाव धावे के साथ ही समाप्त हो गया। चालुक्यों ने धावे की क्षतिपूर्ति शीघ्रता से कर ली और उनको अपने परम्परागत साम्राज्य की सुरक्षा में सफलता मिली। चूंकि चोलों के इस अभियान का कोई स्थायी प्रभाव चालुक्यों पर नहीं पड़ा अतएव राजाधिराज को चालुक्यों के विरुद्ध एक अन्य अभियान की योजना बनानी पड़ी।

राजेन्द्र द्वितीय जो राजाधिराज का भाई और राजाधिराज द्वारा अभिषिक्त युवराज था, इस अभियान में राजाधिराज के साथ रहा। उसके एक अभिलेख में इस अभियान का विस्तृत वर्णन है। इसके अनुसार इस अभियान में चालुक्यों और चोलों की भिडन्त कोप्पम् के रणस्थल में हुई। कोप्पम् की पहचान फ्लीट महोदय ने कृष्णा नदी पर स्थित आधुनिक खिदरापुर से की है। खिदरापुर कोल्हापुर से ३० मील दक्षिण में है। किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार कोप्पम् की पहचान मास्की के पास हीरहल्ल नदी पर स्थित कोपबाल से करना अधिक उचित है। मणिमंगलम् अभिलेख से पता चलता है कि संग्राम में राजाधिराज स्वयं ही चोल सैनिकों का संचालन कर रहा था। चालुक्यों ने भी घनघोर युद्ध किया और उनके सैनिकों ने राजाधिराज को ही अपने आक्रमण का विशेष लक्ष्य बनाया। परिस्थिति चोलों के लिये भी बड़ी गंभीर सिद्ध हुई और अन्त में राजाधिराज युद्ध करते हुए ही संग्राम में हाथी के पीठ पर बैठे-बैठे आहत हुआ और वीरगति को प्राप्त हुआ। इससे कुछ समय के लिये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चोलों की सैन्य-स्थिति बड़ी विषम हो गयी और चोल सेना अनियंत्रित होकर भागने लगी। किन्तु राजाधिराज के भ्राता राजेन्द्र द्वितीय ने तत्काल चोल-सेना का नेतृत्व लिया और बड़े कौशल तथा लाघव से चोलों को संगठित कर लिया। फलतः चालुक्य सैनिक अनेक सामन्तों और सेनापतियों सहित या तो मारे गये अथवा पलायित हुये। राजेन्द्र द्वितीय ने भी कोप्पम् युद्ध की सफलता के उपलक्ष में वहीं उसी रणस्थल में अपना अभिषेक कराया।

कोप्पम् के युद्ध की तिथि के विषय में विद्वानों में दो मत हैं। एक के अनुसार यह संग्राम १०५२ ई० में हुआ था और दूसरे के अनुसार १०५४ ई० में।

राजाधिराज के जीवन पर यदि दृष्टि डाली जाय तो वह एक सफल योद्धा सिद्ध होता है। एक तरह से जबसे उसका वृत्तान्त मिलने लगता है, वह एक सैनिक के रूप में ही प्रस्तुत होता है। राजेन्द्र के शासनकाल में जो भी सामरिक उपलब्धियाँ हुईं, उनमें राजाधिराज का ही अधिक हाथ था। तुंगभद्रा से लेकर लंका तक और केरल से लेकर गंगा तक चोल साम्राज्य को विवर्धित करने में उसके शौर्य का ही विशेष आधार था। अपने राजत्वकाल में भी, उसने असाधारण पौरुष से काम लिया। परम्परागत वैदेशिक नीति का निर्वाह करने में वह बड़ा ही कुशल और दक्ष सिद्ध हुआ। इस संदर्भ में लंका, पाण्ड्य, केरल और चालुक्यों के विरुद्ध में मिली उसकी उपलब्धियाँ प्रमाण हैं। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था।

राजाधिराज के अनेक पुत्र थे, जो उसके शासनकाल ही में महत्त्वपूर्ण सैनिक और प्रशासकीय पदों पर नियुक्त थे। किन्तु उसने अपने जीवन-काल ही में युवराजत्व अपने किसी पुत्र को न देकर अपने भाई राजेन्द्र को ही प्रदत्त किया था। इसके मूल में शुद्ध प्रशासनिक व्यवस्था का दृष्टिकोण था अथवा पारिवारिक षड्यंत्र—कहना कठिन है।

राजेन्द्र द्वितीय ने स्वतंत्र रूप से शासन-संचालन का कार्य १०५४-५५ ई० के लगभग प्रारम्भ कर दिया था। ऐसा उसके कुछ अभिलेखों से प्रमाणित होता है। अपने राजत्व और शासन की दृढ़ता के लिये उसने अपने प्रमुख सम्बन्धियों को शासन और सेना में महत्त्वपूर्ण पद दिये।

कोप्पम् के संग्राम में पराजित चालुक्य अपने पराजय का प्रतिकार करना चाहते थे। अन्य अनेक सामन्तों के साथ दण्डनायक बालादेव ने आगे बढ़ कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चोलों के विरुद्ध अभियान किया। चोल सैनिकों ने चालुक्यों का बढ़ाव रोक दिया और मुडक्कारु के संग्राम में (यह स्थान तुंगभद्रा और कृष्णा के संगम के पास था) चालुक्यों को पुनः बुरी तरह पराजित किया। यह संग्राम १०६२ ई० के आसपास हुआ। इसी युद्ध का विवरण वीर राजेन्द्र के एक अभिलेख में कूडल सँगमम् के नाम से किया गया है। इस अभिलेख से यह भी पता चलता है कि वेङ्गी में भी चालुक्यों के प्रभाव को नियंत्रित करने की सफल चेष्टा राजेन्द्र द्वितीय ने की थी। अपने प्रभाव को चिरस्थायी स्वरूप देने के लिये राजेन्द्र द्वितीय ने अपनी कन्या मधुरान्तकी का विवाह वेङ्गी कुमार से, जिसका भी नाम राजेन्द्र द्वितीय था, कर दिया। यही राजेन्द्र द्वितीय कालान्तर में कुलोतुङ्ग प्रथम के नाम से चोलों का भाग्य विधाता बना।

राजेन्द्र द्वितीय के राजत्व की अन्तिम ज्ञात तिथि १०६३ ई० है। इसका पुत्र और युवराज राजमहेन्द्र पहले ही मर चुका था अतएव इसने अपना उत्तराधिकारी वीर राजेन्द्र को बनाया।

राजकेशरी वीर राजेन्द्र प्रथम के शासन काल (१०६३–१०७० ई०) के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं। अपने पूर्व शासकों की तरह इसने भी राजत्व-प्राप्ति के बाद अपने कई सम्बन्धियों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया।

चोलों की चालुक्यों के प्रति शत्रुता की भावना इसके शासन-काल में भी बलवती रही। राज्यारोहण के कुछ ही दिनों बाद इसको केरल और पाण्ड्य जनपदों में युद्ध छेड़ना पड़ा। करवूर अभिलेख में ऐसा उल्लेख है कि उसने पोत्तप्पी और केरल के राजाओं, धारा के राजा के छोटे भाई, पाण्ड्य नृप श्री वल्लभ के पुत्र वीरकेशरी को युद्ध में मारा। करवूर का अभिलेख उसने अपने शासन के तीसरे वर्ष में प्रकाशित किया। अगले ही वर्ष उसने मणिमंगलम् का अभिलेख प्रकाशित किया जिसमें भी उसने अपने इन विजयों की चर्चा की। यह कहना कठिन है कि इन विजयों को उसने किन परिस्थितियों में किया और इसका परिणाम तथा स्वरूप क्या था।

कूडलसंगमम् संग्राम में पराजित हो जाने के बाद से चालुक्यों की मनोदशा बड़ी विषम थी। सोमेश्वर प्रथम कूडलसंगमम् का प्रतिकार चाहता था। कहते हैं उसने एक पत्र लिख कर वीर राजेन्द्र को पुनः कूडलसंगमम् में युद्ध के लिये आहूत किया। वीर राजेन्द्र ने तुरन्त अभियान की तैयारी की और युद्ध-स्थल में डट गया। महीनों प्रतीक्षा करने के बाद भी चालुक्यों का

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आगमन कूडलसंगम के संग्राम-स्थल तक न हो सका। इस पर चोलों ने रणस्थल में तुङ्गभद्रा के किनारे विजय-स्तम्भ की स्थापना की और वहाँ सोमेश्वर का पुतला बना कर उसे अपमानित किया। आसपास के नगरों को ध्वस्त और भस्म किया और चालुक्य-सेनापतियों यथा देवनाथ, सित्ति और केशरी को पराजित किया। ये सामन्त स्थानीय प्रशासक थे, जो चोलों के जमाव का विरोध कर रहे थे। यह घटना वीर राजेन्द्र के शासन के पांचवें वर्ष (१०६७ ई०) की है। सम्भवतः इन्हीं दिनों सोमेश्वर प्रथम बहुत अस्वस्थ था, जिसके कारण वह युद्ध के लिये प्रस्तुत न हो सका था। स्थिति जो भी रही हो, इन समस्त राजनीतिक गतिविधियों के कारण चालुक्यों को बहुत अपमानित होना पड़ा। सोमेश्वर स्वयं भी इतना ग्लानिग्रस्त हुआ कि उसने तुङ्गभद्रा में डूब कर आत्महत्या कर ली। यह घटना मार्च १०६८ ई० की है।

कूडलसंगमम् की सफलता के बाद वीर राजेन्द्र की दृष्टि वेङ्गी की राजनीति की ओर गयी। इन दिनों पश्चिमी चालुक्यों का वेङ्गी पर विशेष प्रभाव था। इस प्रभाव को समाप्त करने की दृष्टि से वीर राजेन्द्र ने वेङ्गी को अधिकृत करने की योजना कार्यान्वित की। मणिमंगलम् अभिलेख के अनुसार वीर राजेन्द्र ने कृष्णा के तट पर (बैजवाड़ा के पास) पश्चिमी चालुक्यों के सामन्त जगन्नाथ को पराजित किया और चालुक्यों के एक अन्य सामन्त राजमान्य को भी संग्राम से भगा दिया। तदुपरान्त उसकी विजयवाहिनी गोदावरी को पारकर महेन्द्र पर्वत तक गयी और चक्रकोट्टम् तथा कलिङ्ग के कुछ हिस्से को भी अधिकृत किया। इन विजयों से वेङ्गी पर चोलों का आधिपत्य एकबार पुनः स्थापित हो गया। उसने वेङ्गी को पश्चिमी चालुक्यों से मुक्त कर विजयादित्य को समर्पित कर दिया, जो चोलों की संरक्षकता में वेङ्गी का शासन करने लगा।

लंका में विजयबाहु चोलों के विरुद्ध सक्रिय था। 'महावंश' के अनुसार जब वीर राजेन्द्र को विजयबाहु की प्रतिक्रिया की जानकारी हुई तो उसने अपने सेनापतियों को विजयबाहु के विरुद्ध युद्धार्थ भेज दिया। उसकी सेना ने पुलत्थिनगर से चलकर रोहण जनपद में प्रवेश किया और कजरग्राम को लूटा और उजाड़ा। इस सैनिक कारवाई से कुछ समय के लिये समस्त लंका में चोलों का आतंक व्याप्त हो गया। किन्तु परिस्थिति अनुकूल होने पर विजयबाहु ने पुनः चोलों के विरुद्ध मोर्चा संगठित किया। किन्तु इस बार भी परिणाम विजयबाहु के विपरीत ही सिद्ध हुआ। विजयबाहु के समस्त प्रयत्न

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विफल हुए। वीर राजेन्द्र के एक अभिलेख में जो १०६७ ई० में प्रकाशित किया गया था, इस युद्ध का उल्लेख है। इसके अनुसार विजयबाहु युद्ध में परास्त होकर भाग निकला और उसकी राजरानी भी चोलों द्वारा युद्ध-बन्दिनी बना ली गयी। सम्पूर्ण लंका पर चोलों का आधिपत्य स्थापित हो गया।

किन्तु समसामयिक साक्ष्यों के अध्ययन से ऐसा अनुमान होता है कि चोलों को विजयबाहु के विरुद्ध इतनी सफलता न मिल सकी जितना कि 'महावंश' और उक्त चोल अभिलेख में वर्णित है। वस्तुतः १०६७ ई० के दो-चार वर्ष बाद भी विजयबाहु चोलों के विरुद्ध सक्रिय रहा और रोहण जनपद को चोलों के प्रभाव से मुक्त और सुरक्षित रखने में समर्थ रहा।

शासन के छठे वर्ष में वीर राजेन्द्र के प्रति कडारम् का कोई राजा शरणापन्न हुआ। सम्भवतः किसी स्थानीय राजनीतिक परिस्थिति के कारण वह राजभ्रष्ट हो गया था। अथवा यह भी हो सकता है कि परम्परागत राजा को राजभ्रष्ट करने के लिये कडारम् के किसी महत्त्वाकांक्षी ने वीरराजेन्द्र से मिलकर दुरभि-सन्धि की हो। वीर राजेन्द्र को कडारम् में सफलता मिली और उसने उसका विजय करके अपने मित्र को कडारम् का राज्य सौंप दिया।

वीर राजेन्द्र को अपने परम्परागत शत्रु चालुक्यों के साथ भी द्वन्द्व करना पड़ा। इस बीच चालुक्यों की परिस्थिति बड़ी विषम थी। सोमेश्वर प्रथम के मृत्यूपरान्त सोमेश्वर द्वितीय १०६८ ई० में राजा बना। सोमेश्वर द्वितीय विशेष सामर्थ्यवान् न था। उसकी आन्तरिक निर्बलता का लाभ उठाकर वीर राजेन्द्र ने चालुक्यों को आक्रान्त किया। सोमेश्वर द्वितीय के अभिलेखों में इस आशय का विवरण है कि जब चोलों का धावा चालुक्यदुर्ग गुत्ति पर हुआ तो सोमेश्वर द्वितीय चोलों का प्रतिरोध करने में सफल हुआ और चोलों को भाग जाना पड़ा। किन्तु इस आशय के विपरीत तथ्य चोल अभिलेखों तथा विल्हण कृत 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में प्रस्तुत है। चोल अभिलेखों के अनुसार अभी सोमेश्वर द्वितीय राज्याभिषेक की 'कण्ठिका' भी खोल न सका था कि वीरराजेन्द्र ने चालुक्य साम्राज्य को आक्रान्त कर कम्पिली को भस्म कर दिया। चोलों ने विजय की स्मृति में करडिगल्‌ नामक स्थान पर (रायचूर जिले के लिङ्गसागर के पास) विजयस्तम्भ स्थापित किया और सोमेश्वर द्वितीय से कन्नर जनपद छीन लिया। इस जनपद को उसने बाद को शलुक्कि विक्रमादित्य के आधीन कर दिया। शलुक्कि विक्रमादित्य, जो बाद को विक्रमादित्य षष्ठ के नाम से प्रसिद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ, सोमेश्वर द्वितीय का भाई और प्रतिद्वन्दी था। सोमेश्वर द्वितीय की प्रतिद्विन्द्विता में वह वीरराजेन्द्र की सहायता कर रहा था अतएव सोमेश्वर द्वितीय के पराजयोपरान्त वीर राजेन्द्र ने विक्रमादित्य को ही चालुक्यों के अधिपतित्व की प्राप्ति में सहायता दी। 'तक्कयागप्पराणि' से भी इसी आशय का तथ्य व्यक्त होता है कि विक्रमादित्य को राजत्व वीरराजेन्द्र की सहायता से ही प्राप्त हुआ। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के अनुसार सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य में प्रतिद्वन्द्विता थी और विक्रमादित्य ने तुङ्गभद्रा के आसपास सोमेश्वर के विरुद्ध संग्राम छेड़कर विद्रोह कर दिया था। विक्रमादित्य ने अपने भ्राता को पराभूत करके अपनी आन्तरिक स्थिति दृढ़ कर ली और फिर चोलों के विरुद्ध भी युद्ध के लिये अग्रसर हुआ। अपने भाई जयसिंह तथा अन्य सामन्तों यथा जयकेशि (कदम्ब वंशीय) और आलुप नरेश की भी सहायता उसे प्राप्त थी जिसका उपयोग उसने चोलों के विरुद्ध किया। चोलों ने विक्रमादित्य के प्रति मैत्री सम्बन्ध की इच्छा व्यक्त की और अपनी कन्या का विवाह विक्रमादित्य के साथ प्रस्तावित किया। इस प्रकार वीरराजेन्द्र और विक्रमादित्य षष्ठ में मैत्री सम्बन्ध की स्थापना हो गयी। इन दोनों की मैत्री का परिणाम सोमेश्वर द्वितीय के हित में बड़ा बुरा हुआ। वीरराजेन्द्र के दबाव में आकर सोमेश्वर द्वितीय को अपनी पैत्रिक राजसत्ता का विभाजन करना पड़ा तथा साम्राज्य का एक बड़ा अंश विक्रमादित्य को देना पड़ा। कालान्तर में विक्रमादित्य सम्पूर्ण चालुक्य साम्राज्य पर कब्जा जमाने में भी समर्थ हुआ।

वीरराजेन्द्र बड़ा प्रतापी था। अपने राजत्वकाल में अद्वितीय सामरिक प्रतिभा का प्रदर्शन करके उसने पैत्रिक चोल साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा। कुशल प्रशासक के अतिरिक्त वह बड़ा दानी और विद्वानों का संरक्षक भी था। १०६७ ई० के अभिलेख से पता चलता है कि तिरुमुक्कूडल में (चिंगलेपुट जिले में) उसने एक वैदिक पाठशाला को संरक्षण दिया था। यहीं पर इसकी सहायता से एक चिकित्सालय का भी संचालन होता था जहाँ १५ रोगियों की परिचर्या और औषधि आदि की व्यवस्था थी। उसकी अनेक उपाधियाँ प्रसिद्ध थीं। उसकी विशेष लोकप्रिय उपाधियाँ 'आहवमल्लकुलकाल और 'वल्लभवल्लभ' थीं जिन्हें उसने चालुक्यों के विरुद्ध उपलब्ध सफलताओं की स्मृति में धारण किया था।

वीरराजेन्द्र की मृत्यु १०७० ई० के पूर्वार्द्ध में हुई। इसके बाद उसका पुत्र अधिराजेन्द्र राजपीठ पर बैठा और केवल कुछ मास तक ही शासन कर

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सका । वह रोगी भी था । कतिपय अभिलेखों में उसे 'कृमिकंठ' कहा गया है । सम्भवतः यह वैष्णव संत रामानुज के प्रति असहिष्णु था । इसका शासन लोकप्रिय न था । सम्भवतः किसी विद्रोह ही में यह मारा गया । इसके शासन के अन्त से विजयालय चोल परम्परा के शासन का भी अन्त हुआ । इसके बाद चोल राजपीठ पर कुलोतुङ्ग प्रथम का अधिकार हो गया जो मातृपक्ष से राजराज प्रथम का प्रपौत्र था ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ९

कुलोतुङ्ग और परवर्त्ती चोल

उन राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी करना कठिन है जिनका लाभ उठाकर कुलोतुङ्ग चोल राजपीठ पर आसीन हुआ। कुलोतुङ्ग की माता अमङ्गा देवी, राजेन्द्र प्रथम की पुत्री थी और पूर्वीचालुक्य नृप राजराज प्रथम से विवाहित थी। उसकी दादी कुन्दवै अथवा कुन्दवा भी चोल कन्या अर्थात् चोलनृप राजराज प्रथम की पुत्री थीं। १०६० ई० में कुलोतुङ्ग के पिता राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु हुई। अगले दशक तक अज्ञात राजनीतिक परिस्थितियों में कुलोतुङ्ग प्रथम का समय गुजरा। कुलोतुङ्गऔर वीरराजेन्द्र में अच्छा सम्बन्ध था और वेङ्गी पर वीरराजेन्द्र की प्रभुत्व स्थापना में उसका सक्रिय सहयोग था। 'कलिङ्गत्तुपराणि' के अनुसार वीरराजेन्द्र ने कुलोतुङ्ग को अपना युवराज और उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। किन्तु यह मिथ्या है। अधिराजेन्द्र के अभिलेखों से, 'विक्रमाङ्कदेवचरित' और 'विक्रमशोलन् उला' से 'कलिङ्गत्तुपराणि, के विपरीत तथ्य उद्घाटित होता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि वीरराजेन्द्र ने कुलोतुङ्ग को गोद लिया था अथवा उसको चोलराजपीठ के लिये स्वीकार किया था। वीरराजेन्द्र के मरने के बाद चोल साम्राज्य में कुछ अशान्ति फैल गयी थी। अधिराजेन्द्र की असहिष्णु धार्मिक नीति ने उसे प्रजा में बदनाम कर रखा था। अधिराजेन्द्र ने प्रसिद्ध वैष्णव संत रामानुज को दण्डित किया था जिसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई थी और सम्भवतः इसी कारण उसके शासन का अन्त भी हुआ। कुलोतुङ्ग ने वैष्णव धर्म के प्रति आदर का भाव व्यक्त किया और सम्भवतः अधिराजेन्द्र के विरुद्ध होने वाले षड्यंत्र और उपद्रवों में प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग भी दिया। इस प्रकार चोलों की आन्तरिक अशान्ति का कुलोतुङ्ग ने लाभ उठाया और प्रजा में लोकप्रियता प्राप्त करके ९ जून १०७० ई० को चोलराजपीठ का स्वामी बन बैठा।

कुलोतुङ्ग के शासनकाल में न केवल चोलों का विघटित जीवन ही नियंत्रित हुआ, अपितु उसके सुशासन से चोलों की प्रगति में एक नया ही उन्मेष द्रष्टव्य हुआ। अधिराजेन्द्र कालीन अव्यवस्थाओं का उसके द्वारा अन्त किया गया। आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देकर उसने अपने दीर्घकालीन शासन को (१०७० ई०—११२० ई०) लोकप्रिय बनाया। इससे उसका और उसके उत्तराधिकारियों का भी प्रशासन चिरस्थायी हुआ। लगभग एक शती तक (कुलोतुङ्ग तृतीय के समय तक) चोल समृद्धि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अचल रही और साम्राज्य में दीर्घसूत्रीय युद्धों की परम्परा का अन्त होने से, अपेक्षाकृत अधिक शान्ति रही। इस शान्ति का उपयोग उसने लोक जीवन की सुखाभिवृद्धि में तथा अन्य बौद्धिक और कलात्मक कार्यों में किया। इसके दीर्घकालीन शासन में यद्यपि परम्परागत सम्राज्य का कुछ अंश चला गया किन्तु जो अंश शेष रहा उस पर चोल प्रशासन का अच्छा नियंत्रण बना रहा। समर्थ होते हुए भी उसने ऐसे युद्धों को महत्त्व न दिया जिससे उसे अनिष्ट-कारी दीर्घकालीन युद्धों में फँसा रहना पड़ता। परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में उसने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया और परम्परागत युद्ध नीति का परित्याग किया। अनावश्यक युद्धों से बचने की ही दृष्टि से उसने अपने साम्राज्य के विवादास्पद और दूरस्थ क्षेत्रों पर अधिक नियंत्रण स्थापित करने का दुराग्रह न किया। इस प्रकार उसने इसकी कोई चेष्टा न की कि लंका का परम्परागत विजित उसकी स्वायत्तता में बना रहे। समसामयिक राजनीति को देखते हुए उसका यह उचित दृष्टिकोण सिद्ध किया जा सकता है। लंका में इन दिनों विजयबाहु की आन्तरिक परिस्थिति बड़ी अनुकूल थी और उसने लंका की स्वाधीनता के लिए इतना उद्योग कर लिया था कि उसके सामने लंका में चोलों का राज्य स्थिर रहना कठिन था। इसी तरह की राजनीतिक परिस्थिति सुदूर मैसूर क्षेत्र में और तुङ्गभद्रा के उत्तर में भी उत्पन्न हो गयी थी। मैसूर में होयसलों का अभ्युदय हो रहा था और तुंगभद्रा के उत्तर में चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ अपने पूर्ववर्ती चालुक्य नृपों की अपेक्षा सुदृढ़ था। किन्तु वेङ्गी में उसने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की जो कुलोतुङ्ग के पूर्व किसी नृप को प्राप्त न था। पश्चिमी चालुक्यों के लाख विरोध और षडयंत्रों के बावजूद कुलोतुङ्ग ने वेङ्गी को वास्तविकता की दृष्टि से अपने ही आधीन कर लिया। वहाँ का उपराज या युवराज उसने अपने पुत्र को ही नियुक्त किया अतएव वेङ्गी की स्वतंत्र सत्ता एक तरह से नष्ट हो गयी और वेङ्गी का जनपद चोल साम्राज्य का अङ्ग बन गया।

१०७० ई० के पूर्व ही जब कि उसके अधिकार में चोल राजपीठ न था, कुलोतुङ्ग ने बस्तर जनपद के कतिपय सामन्तों को अपने आधीन बना लिया था। १०७० ई० के पूर्व ही उसने धारावर्ष के नागवंशियों को भी 'करदीकृत' किया था और पश्चिमी चालुक्य नृप विक्रमादित्य षष्ठ से भी वह एकबार जूझ चुका था। वेङ्गी पर इसका अधिकार न था; उस पर इसके चाचा विजयादित्य का प्रभुत्व था। १०७० ई० के पूर्व सम्भवतः कुलोतुङ्ग (जिसका मूलनाम राजेन्द्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था) वेङ्गी से निर्वासित था फिर भी अपने पौरुष और पराक्रम के आधार पर बस्तर आदि जनपद में अपने लिये एक नये राज्य की स्थापना में संलग्न रहा।

१०७० ई० में चोल राजपीठ पर आसीन होने पर उसने अधिराजेन्द्र कालीन अराजकता का अन्त किया और चोल साम्राज्य की विघटनकारी राजनीतिक प्रवृत्तियों को नियंत्रित किया। इस संदर्भ में उसका सबसे पहले संघर्ष पश्चिमी चालुक्य नृप विक्रमादित्य षष्ठ से हुआ, जो वेङ्गी पर अधिकार करने के लिये बड़ा आतुर था। कुलोतुङ्ग के चोलराजपीठ पर आसीन हो जाने पर वेङ्गी पर चोलों का सहज ही प्रभाव स्थिर हो गया था और दोनों राजघराने अपेक्षाकृत सन्निकट हो गये थे। विल्हण ने लिखा है कि 'अधिराजेन्द्र जब विद्रोही प्रजा द्वारा मारा गया तो भाग्यवश रज्जिग (= राजेन्द्र = कुलोतुङ्ग) चोल राजपीठ का स्वामी बना। उस कुटिलमति राज्जिग ने चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के विरुद्ध उसके भ्राता सोमेश्वर द्वितीय को मिलाया और विक्रमादित्य को आक्रान्त किया।' विक्रमादित्य को भी कुलोतुङ्ग के विरुद्ध कई सामन्तों और मित्रराष्ट्रों की सहायता प्राप्त थी। इस प्रकार देवगिरि के यादव इरियंग होयसल, त्रिभुवनमल्ल पाण्ड्य, जयकेशि कदम्ब विक्रमादित्य की सहायता कर रहे थे। विल्हण के अनुसार इस युद्ध में विक्रमादित्य की विजय हुई और सोमेश्वर बन्दी बना लिया गया। किन्तु चोल अभिलेखों में इस युद्ध का विजेता कुलोतुङ्ग को बताया गया है। कुलोतुङ्ग ने गंगमण्डलम् और शिङ्गणम् पर अधिकार कर लिया। चोल अभिलेखों का विवरण सत्य के अधिक निकट है। इस विजय से कुलोतुङ्ग का अधिकार दक्षिण पूर्वी तुङ्गभद्रा क्षेत्र और मैसूर के नेवलीनाड जनपद पर हो गया। 'कलिङ्गत्तुपराणि' और 'विक्रमशोलनूउला' के अनुसार कुलोतुङ्ग के धावों से वनवासी, कोंकण तथा पश्चिमी समुद्र तक का क्षेत्र प्रभावित हुआ।

१०७२-७३ ई० के कुछ ही पूर्व वेङ्गी पर त्रिपुरी के हैहयवंशीय यशस्कर्णदेव का धावा हुआ। किन्तु उसके इस अभियान का वेङ्गी अथवा चोल संप्रभुता पर कोई स्थायी प्रभाव न पड़ा।

इसी बीच पाण्ड्य जनपद में भी कुछ अशान्ति उत्पन्न हो गयी थी। अधिराजेन्द्र के समय की अव्यवस्थाओं और कुलोतुङ्ग की प्रारम्भिक कठिनाइयों से उत्साहित होकर चोल-प्रशासन को पाण्ड्यों ने उच्छिन्न कर दिया और न केवल पाण्ड्य जनपद में अपितु केरल में भी स्थानीय सामन्तों ने स्वाधीनता घोषित कर दी। इन परिस्थितियों का लंका पर भी प्रभाव पड़ा। १०५८ ई० के बाद से ही चोल-शासन का क्षेत्र वस्तुतः संकुचित होने लगा था और किट्टि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नामक लंका के राजा के रोहण जनपद को स्वतंत्र कर लिया था। इसके बाद से लंका में चोल-शासन केवल लंका के उत्तरी इलाके में ही, जिसे राजरट्ट कहते हैं, सीमित था। विजयबाहु प्रथम वीर राजेन्द्र के ही समय से लंका की स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील था। 'महावंश' में उसके उन प्रयत्नों का सुविस्तृत वर्णन है जिनसे उसने लंका को चोलों की आधीनता से मुक्त किया। १०७० ई० के बाद, (अधिराजेन्द्र के तीसरे राजत्व वर्ष के बाद) एक भी चोल अभिलेख लंका से उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत १०७३ ई० तक विजयबाहु द्वारा लंका की स्वाधीनता का पुष्ट प्रमाण है। १०७५–७६ ई० तक रोहण, अनुराधापुर, पोलन्नारुवा पर विजयबाहु का आधिपत्य भली-भांति स्थापित हो गया। कुलोतुङ्ग का एक भी अभिलेख लंका से प्राप्त नहीं है। ऐसी दशा में यही निष्कर्ष निकलता है कि लंका का कोई जनपद कुलोतुङ्ग के समय में चोलों के आधीन नहीं था। कुलोतुङ्ग ने लंका को चोल साम्राज्य का अङ्ग बनाये रखने के लिये कोई प्रयत्न न किया। १०८८ ई० में कुलोतुङ्ग और विजयबाहु के बीच सन्धि हो गयी। कुलोतुङ्ग ने अपनी कन्या का विवाह विजयबाहु प्रथम से करके इस सम्बन्ध को और दृढ़ किया। किन्तु पाण्ड्य जनपद के प्रति कुलोतुङ्ग ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। चालुक्यों से निपटते ही वह पाण्ड्यों पर टूट पड़ा और पाण्ड्य तथा केरल के विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन किया। पाण्ड्यों का दमन करने में कुलोतुङ्ग को कई मोर्चों पर युद्ध छेड़ना पड़ा। विभिन्न अभिलेखों से ऐसा पता चलता है कि कुलोतुङ्ग के विरोधी पाण्ड्य जनपद के पांच राजा या सामन्त थे जिन्हें पराजित करके चोलों ने कूट्टारु और विलिञ्म दुर्गों को अधिकृत किया। 'विक्रमशोलन् उला' के अनुसार चेर और शालै दुर्ग पर भी चोलों ने पाण्ड्यों के दमन संदर्भ में ही अधिकार किया। चेर सम्भवतः पाण्ड्यों के साथ ही चोल-शासन के प्रति विद्रोही हो उठे थे। लगभग पन्द्रह वर्ष बाद (१०८५ ई० के आसपास) पाण्ड्य जनपद में पुनः विद्रोह हुआ। इस विद्रोह में वेनाड के सामन्त नेतृत्व कर रहे थे। किन्तु इस बार भी चोलों के एक सामन्त नरलोकवीर ने विद्रोहियों का दमन किया। पाण्ड्य जनपद पर चोल सत्ता के स्थायित्व के निमित्त जगह-जगह पर कुलोतुङ्ग ने सैनिक छावनियों (निलैप्पडै) की स्थापना की। किन्तु सामान्य प्रजा के प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन किया और उन्हें स्थानीय स्वशासन की पूरी सुविधा और छूट दी।

चीनी अनुश्रुति के अनुसार १०७७ ई० में चीन सम्राट के पास 'चूलियें'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(= चोल) जनपद से एक बहत्तर सदस्यीय दूतमण्डल पहुँचा था। चीनी अनुश्रुति दूतमण्डल भेजने वाले चोल नरेश का नाम 'ति-हुआ-किया-लो' लिखा है। इस नाम का उचित रूपान्तर देवकला अथवा दिवाकर होगा। लेकिन चूँकि यह दूतमण्डल चीन में १७७० ई० में भेजा गया था और इस समय चोलों का नृप कुलोतुङ्ग था, अतएव ऐसा समझना ही उचित है कि चीनी अनुश्रुति में चोल नरेश का शुद्ध नाम नहीं अंकित है। वस्तुतः यह कुलोतुङ्ग ही था जिसने १७७० ई० में चीन से दौत्य-सम्बन्ध स्थापित किया। लघु लाइडन दानपत्र से इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि कडारम् से भी इसका राजनयिक सम्बन्ध बना रहा।

कुलोतुङ्ग की सबसे बड़ी राजनीतिक सफलता थी वेङ्गी पर चोलों के अधिकार की स्थापना। कुलोत्तुङ्ग के वेङ्गी से चले आने पर वेङ्गी का उपराजत्व कुलोतुङ्ग की व्यवस्था के अनुसार विजयादित्य सप्तम को मिला। विजयादित्य सप्तम की कुलोत्तुङ्ग से न बनती थी फिर भी वह जीवन पर्यन्त वेङ्गी का उपराजा बना रहा। उसके मरने पर १०७६ ई० में वेङ्गी के राजपीठ पर अपने पुत्र राजराज मुम्मडि चोड को उपराजा के रूप में आसीन कराया। किन्तु एक ही वर्ष में राजराज मुम्मडि चोड वेङ्गी के राजपीठ से हट गया। तदुपरान्त कुलोत्तुङ्ग का दूसरा पुत्र वीर चोड वेङ्गी का उपराजा बना और वह इस दायित्व का निर्वाह लगभग छ वर्षों तक करता रहा। इसके उपराजत्व का समय १०७८ ई० से १०८४ ई० तक निर्धारित किया जा सकता है। इसके बाद १०८४ ई० से १०८९ ई० तक कुलोतुङ्ग का एक अन्य पुत्र राजराज चोड गंग वेङ्गी के राजपीठ पर बैठा।

यह कहना कठिन है कि किन राजनीतिक परिस्थितियों में वेङ्गी के राजपीठ पर उसका कोई एक राजपुत्र उपराज के रूप में स्थिर न रह सका। इसके मूल में शुद्ध प्रशासनिक दृष्टिकोण था अथवा वेङ्गी की आन्तरिक राजनीतिक परिस्थिति। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेंङ्गी की इन परिवर्तनशील परिस्थितियों का वेङ्गी के उत्तरी जनपदों पर अच्छा प्रभाव न पड़ा। वेङ्गी के उत्तरी जनपदों के अन्तर्गत कलिङ्ग का भी कुछ हिस्सा आता था। वीर चोड के उपराजत्व काल ही में महेन्द्र पर्वत और गोदावरी के बीच के कुछ सामन्तों ने चोलों की आधीनता का विरोध किया। कलिङ्गदेशीय इन सामन्तों का दमन करने के लिये कुलोत्तुङ्ग ने कलिङ्ग देश को दो बार आक्रान्त किया। पहली बार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुलोतुङ्ग के छब्बीसवें राजत्व वर्ष में (१०९६ ई०) चोलों द्वारा कलिङ्ग आक्रान्त हुआ। चोलों की ओर से कोई परान्तक नामधारी पाण्ड्य भी कालिङ्गों के विरुद्ध अभियान में सहयोगी बना था। अभियान का नेतृत्व कुलोतुङ्ग का पुत्र विक्रम चोल कर रहा था। कलिङ्ग विद्रोहियों का साथ कोलनु (आधुनिक कोलैर हृद के निकट इल्लौर) का सामन्त भी दे रहा था। किन्तु चोलों का अभियान सफल रहा और कालिङ्ग सामन्तों का विद्रोह प्रभावपूर्ण ढंग से दबा दिया गया। तदुपरान्त वेङ्गी के इस उत्तरी जनपद (दक्षिणी कलिङ्ग) को विक्रम चोल के आधीन कर दिया गया।

कलिङ्ग में दूसरी बार पुनः चोलों के विरुद्ध सक्रियता बढ़ी। लगभग १११० ई० में अर्थात् कुलोतुङ्ग के शासन के सैंतालीसवें राजत्व वर्ष में चोलों को कालिङ्गों के विरुद्ध पुनः सेना भेजनी पड़ी। इस बार का चोल-अभियान, अपेक्षकृत पूर्व अभियान के, भीषण रहा। इस अभियान का विषद वर्णन 'कलिङ्गत्तुपराणि' में उपलब्ध है। चोलों की ओर से प्रसिद्ध पल्लव सेनानी करुणाकर चोल सेना का नेतृत्व कर रहा था। अभियान का समारम्भ काञ्ची से हुआ। यहाँ से चोल सेना निरन्तर विजयोन्मुख होती हुई कलिङ्ग देश में प्रविष्ट हुई और उसका तहस-नहस किया। कलिङ्गाधिपति अनन्तवर्मन् चोडनाग (१०७८-११५० ई०) पराजित होकर युद्ध-स्थल से भाग निकला। तदुपरान्त कलिङ्ग का विजित भाग चोलों का करदीकृत हुआ। किन्तु उत्तरी कलिङ्ग पर चोलों का प्रभुत्व न स्थापित हो सका।

कुलोतुङ्ग की राजनीतिक सफलता का एक अन्य प्रमाण उसकी समकालीन उत्तरी भारत के प्रमुख साम्राज्य से मैत्री सम्बन्ध की स्थापना है। सम्भवतः यह पहला चोल नृप था जिसने उत्तरी भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधि में रुचि प्रदर्शित की। गंगैकोण्ड चोलपुरम् से एक खंडित गहडवाल प्रशस्ति से ऐसा संकेत मिलता है कि कुलोतुङ्ग के शासन के इक्तालीसवें वर्ष में चोल नृप का गहडवाल नृप (मदनपाल अथवा गोविन्दचन्द्र) से मैत्री और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित था। दोनों ही राजवंश इस समय सूर्यपूजक थे, सम्भवतः इन दो वंशों के बीच ऐक्य स्थापित करने में इस तत्त्व का विशेष महत्त्व था।

कुलोतुङ्ग के शासन के अन्तिम चरण में चोल साम्राज्य को गंगवाडि का इलाका गँवा देना पड़ा। चोलों का एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी राजवंश, (होयसल) इन दिनों उत्कर्ष पर था। होयसल राजवंश का प्रारम्भिक वृत्तान्त हम अन्यत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(अध्याय ११) प्रस्तुत करेंगे। नृपकाम (ल० १०२२-१०४० ई०) के शासनकाल से होयसल राजवंश विशेष राजनीतिक महत्ता को प्राप्त करने लगा था। विक्रमादित्य षष्ठ (पश्चिमी चालुक्य) और कुलोतुङ्ग के बीच पूर्व युद्ध में होयसल नृप विनयादित्य विक्रमादित्य षष्ठ का सहायक था। किन्तु बिट्टिग विष्णुवर्धन् (११००-११५२ ई०) के समय में होयसल राजनीतिक दृष्टि से बड़े प्रबल हुए और धीरे-धीरे अपना सामन्ती बाना फेंक कर स्वतंत्र शासक के रूप में उभरने लगे। उसके एक अभिलेख में, जो ११९६ ई० में प्रकाशित हुआ था, उसे 'तलकाडुगोण्ड' कहा गया है। इस समय तक वह न केवल तलकाडु पर अपितु कोलाल (कोलार) पर भी शासन करने लगा था। उसके शासन-क्षेत्र में कोङ्गु तक का गंगवाड़ि जनपद था। उसके ये सारे विजित चोलसाम्राज्य के अंग थे जिन्हें गँवा कर कुलोतुङ्ग वास्तविक दृष्टि से क्षतिग्रस्त हुआ। एक अन्य अभिलेख में विवरण है कि होयसल सेना सीधे तमिळ-क्षेत्र (तिगुल) में घुस गयी और रामेश्वरम् तक धावा किया। होयसल सैनिकों ने आदुतुरै के मंदिर की मूर्तियों को हलेविड ले जाने का प्रयास किया, जिन्हें किसी पराक्रम पाण्ड्य ने छीन कर उनका उद्धार किया।

इसी बीच वेङ्गी की राजनीति में भी बड़ा उथल-पुथल हुआ। १११८ ई० के लगभग वेङ्गी जनपद का उत्तरार्द्ध कुलोतुङ्ग के हाथ से निकाल कर उसके प्रतिद्वन्दी विक्रमादित्य षष्ठ के हाथों लगा। यह क्षेत्र विक्रमादित्य के प्रभुत्व में उसके जीवन पर्यन्त वर्तमान रहा और उसके चोल प्रतिद्वन्द्वी पुनः उससे न छीन सके।

शासन के अन्तिम भाग की इन हानियों के बावजूद कुलोतुङ्ग के पचास वर्षीय शासन काल में (१०७०-११२० ई०) चोल समृद्धि सर्वविधि अचल रही। सम्पूर्ण साम्राज्य में सुख और शान्ति रही। गंगैकोण्ड चोलपुरम् के अतिरिक्त उसने काञ्ची की भी समृद्धि को विकसित किया। वह अपने कर-नीति और आर्थिक सुधारों के लिये भी लोकप्रिय था। उसने अपने साम्राज्य की समस्त भूमि की पैमाइश करवा डाली थी। उसकी अनेक उपाधियों में 'त्रिभुवन चक्रवर्तिन्' 'विरुदराजभयङ्कर' विशेष लोकप्रिय थे।

कुलोतुङ्ग के बाद चोल राजपीठ पर विक्रम चोल आसीन हुआ। ११२० ई० में राजत्व पाने पर इसने अपने पिता की ही नीतियों का निर्वाह किया। पश्चिमी चालुक्य नृप विक्रमादित्य षष्ठ ११२६ ई० में मर गया। इसे विक्रम चोल ने चालुक्य और वेङ्गी के विरुद्ध अभियान करने का सुअवसर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझा। उसे अपनी नीति में सफलता मिली और वेङ्गी के अपहृत अंश को पुनः चोल साम्राज्य के अन्तर्गत ले आने में वह समर्थ हुआ। कोलार क्षेत्र तथा गंगवाड़ि के अन्य क्षेत्रों पर भी उसने अपने प्रभुत्व की स्थापना की। ११२५ ई० के लगभग उसके साम्राज्य का वह क्षेत्र जो आधुनिक उत्तरी और दक्षिणी अर्काट जिलों में पड़ता है अकाल और बाढ़ के प्रकोप से पीड़ित हुआ। इस संदर्भ में उसने प्रजा-सुख के लिये अनेक कार्य किये। वह बड़ा धार्मिक और दानी भी था। चिदम्बरम् के नटराज मंदिर में उसने प्रभूत दान किये थे। ११२१ ई० में प्रकाशित एक अभिलेख से पता चलता है कि उसकी संरक्षकता में तिरुवाडुतुरै (तञ्जोर जिले में) एक चिकित्सा-विद्यालय संचालित था जिसमें 'चरकसंहिता' और 'अष्टाङ्गहृदय' के अध्ययन की व्यवस्था थी।

११३३ ई० ही में कुलोतुङ्ग (द्वितीय) युवराजत्व को प्राप्त हुआ और दो वर्ष बाद जब विक्रम चोल की मृत्यु हुई (११३५ ई०) तो कुलोतुङ्ग द्वितीय चोल साम्राज्य का उपभोक्ता बना। इसके शासन काल की (११३३–११५० ई०) किसी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना का ज्ञान नहीं है। किन्तु इसकी संरक्षकता साहित्यिक प्रगति के लिये महत्वपूर्ण है। इसके तथा इसके सामन्तों द्वारा संरक्षित साहित्यक और कवियों में ओट्टक्कूत्तन्, शेक्किलार और कम्बन् विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु वैष्णव धर्म के प्रति यह असहिष्णु भी था। इसने गोविन्दराज की प्रतिमा समुद्र में फेंकवा दी थी। कुछ विद्वान इसी कुलोतुङ्ग द्वितीय को ही 'कृमिकंठ चोल' मानते हैं। शैव धर्म के प्रति यह बड़ा आस्थावान् था। चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर पर इसने भी प्रभूत चढ़ावे चढ़ाये थे।

कुलोतुङ्ग द्वितीय के बाद राजराज द्वितीय चोल राजपीठ पर आसीन हुआ और ११४६ से ११७३ ई० तक शासन करता रहा। इसका और इसके उत्तराधिकारी राजाधिराज द्वितीय का शासनकाल (११७३–११७९ ई०) एक ऐसे युग में था जिसमें किसी तरह चोलों का साम्राज्य विघटित होने से बचा रहा। उस युग में चोलों की राजनीति मुख्यतया पाण्ड्यों के गृह-युद्ध में उलझी रही और इस गृह-युद्ध के कारण इन्हें पुनः लंका के समकालीन राजाओं से वैर भाव मोल लेना पड़ा। पाण्ड्य राजपीठ के लिये पराक्रम पाण्ड्य और कुलशेखर के बीच बड़ी प्रतिद्वन्द्विता थी। पाण्ड्य-राजनीति में पड़कर चोलों को एक दीर्घकालीन अर्थात् ११६९ से ११७७ ई० तक युद्ध में व्यस्त रहना पड़ा। पाण्ड्यों के इस दीर्घकालीन युद्ध की चर्चा यथाप्रसंग अन्यत्र (द्रष्टव्य पृष्ठ १४०–१४१) होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजाधिराज द्वितीय का उत्तराधिकारी कुलोतुङ्ग तृतीय था। राजाधिराज द्वितीय ने अपने जीवन काल ही में कुलोतुङ्ग तृतीय को चोल राजपीठ के लिये चुन लिया था। परिस्थितिवश इसे भी पाण्ड्यों के उत्तराधिकार युद्ध में दिलचस्पी लेनी पड़ी। यद्यपि पाण्ड्य नृप वीर पाण्ड्य कुलोतुङ्ग तृतीय के ही सहयोग से पाण्ड्य राजपीठ को प्राप्त कर सका था किन्तु बाद को वह लंका के राजा से मिलकर कुलोतुङ्ग के साथ षड्यंत्र करने लगा। ऐसी स्थिति में कुलोतुङ्ग ने बलात् वीर पाण्ड्य को पाण्ड्यराजपीठ से च्युत किया और कुलशेखर के एक सम्बन्धी विक्रम पाण्ड्य को ११८२ ई० में पाण्ड्यों का राजा बनवाया। किन्तु उसके इस कूटनीति की गहरी प्रतिक्रिया हुई। वीरपाण्ड्य ने ११८९ ई० के आसपास कुलोतुङ्ग और विक्रम चोल का विरोध किया और लंका के राजा निस्शङ्कमल्ल ने तीन बार पाण्ड्य जनपद को आक्रान्त किया। किन्तु परिणाम कुछ न निकला। कुलोतुङ्ग तृतीय ने वीरपाण्ड्य के विद्रोह का दमन किया और लंका की सेना को पाण्ड्य जनपद से पलायित किया। कोङ्गुदेश में भी चोलों के प्रति विद्रोह की भावना कुलोतुङ्ग के शासन काल की आरम्भिक अवस्था में जड़ जमा रही थी। किन्तु चार वर्षों की (११९०–११९४ ई०) की अवधि में कोङ्गु जनपद पर चोलों की प्रभुसत्ता पुनः स्थापित हो गयी। ११९६ ई० के लगभग काञ्ची पर तेलुगु चोडों का आधिपत्य हो गया था। कुलोतुङ्ग तृतीय ने तेलुगु चोड़ों से काञ्ची को मुक्त कर लिया। १२०८ ई० में उसने आन्ध्र देश को भी आक्रान्त किया।

किन्तु शासन के अन्तिम वर्षों में उसे पुनः पाण्ड्यों की राजनीति में फँसना पड़ा जटावर्मन् कुलशेखर ने चोलों के प्रति भक्ति नहीं दिखाई और वह विद्रोही हो उठा। शीघ्र ही एक महती सेना भेजकर कुलोतुङ्ग ने पाण्ड्य जनपद को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और जटावर्मन् को वशीकृत किया। किन्तु पुनः दोनों में सन्धि हो गयी और जटावर्मन् कुलशेखर पुनः पाण्ड्य राजपीठ पर बैठा दिया गया। किन्तु इसका भाई मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम कुलोतुङ्ग तृतीय से भी प्रबल पड़ा और इसके द्वारा कुलोतुङ्ग को पराजित होना पड़ा। स्थिति कुछ और ही होती यदि इस समय चोलों को होयसलो की सहायता न उपलब्ध हो गयी होती। (द्रष्टव्य पृष्ठ १४३)

वस्तुतः कुलोतुङ्ग तृतीय के बाद चोलराजवंश की नींव डांवाडोल हो गयी। कुलोतुंग तृतीय की सहायता से स्थिर हुए पाण्ड्यवंशीय नृप स्वयं चोलों की स्थिति के लिये खतरनाक हो गये। कुलोतुङ्ग तृतीय का उत्तराधिकारी त्रिभुवन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चक्रवर्तिन् राजराजदेव (तृतीय) था। इसका राजत्व (१२१६–१२४६ ई०) बड़ी विषम परिस्थिति में गुजरा। पश्चिम में होयसलों की शक्ति दिनानुदिन उन्नति पर थी और उत्तर पूर्व में तेलुगु चोड तथा काकतीय वंश भी राजनीतिक दृष्टि से प्रबल पड़ते जा रहे थे। दक्षिण में पाण्ड्य चोलों के अस्तित्व के विरुद्ध सक्रिय थे। इन उदीयमान् शक्तियों के सम्मुख चोल राजवंश वृद्ध हो चला था और अपने पराभव के दिन गिन रहा था। बढ़ती हुई कठिनाइयों की तुलना में राजराज तृतीय की प्रतिभा मन्द थी। न वह प्रबल योद्धा था और न कुशल नीतिज्ञ। इसका प्रशासन भी समयानुकूल न था अतएव यत्र तत्र प्रशासनात्मक निर्बलता के कारण विद्रोही सामन्तों का उदय हो रहा था जिनमें कुडलूर के काडव, शेंडमङ्गलम् के सामन्त और सामन्त कोपेरुजिङ्ग विशेष महत्त्वपूर्ण थे। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के आक्रमण से पराभूत होकर चोल साम्राज्य की निर्बलता स्पष्ट हो गयी थी जिसका लाभ उठाने के लिये न केवल बाहरी शत्रु आतुर थे अपितु आन्तरिक द्रोही सामान्त भी घात लगाये बैठे थे। आन्तरिक प्रशासन के दोष से, जैसा कि उसके समय के अभिलेखों से पता चलता है, तञ्जोर के आसपास उसके शासन के पांचवें वर्ष में ही अव्यवस्था व्याप्त थी और सर्वत्र 'दुरितञ्जल' (अशान्ति) और 'क्षोभ' का वातावरण प्रस्तुत था। कभी-कभी चोलों के आधीनस्थ दो सामन्त भी परस्पर लड़ पड़ते थे। १२२३–२४ ई० के लगभग के एक अभिलेख से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि उत्तरी अर्काट क्षेत्र में वीरनरसिंहदेव यादवराज और काडवराय दोनों में भयंकर युद्ध हुआ था। ये दोनों ही चोलों के सामन्त थे। वीर नरसिंहदेव ने अपने को अभिलेखों में 'काञ्चीकाञ्चनकाडव कुलान्तक' विरुद से प्रसिद्ध किया था। किन्तु काडववंश भी बड़ा प्रबल था। चोल और उनके सहायक होयसल के लिये काडव उतने ही खतरनाक सिद्ध हुए जितना कि पाण्ड्य।

पाण्ड्यों से शत्रुता मोल लेने में राजराज तृतीय स्वयं ही सक्रिय था। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम के एक अभिलेख के अनुसार राजराज तृतीय ने सन्धि सम्बन्ध की उपेक्षा की थी और पाण्ड्यो को 'महती सेना द्वारा आक्रान्त किया था। राजराज तृतीय और मारवर्मन् के बीच हुए संग्राम तथा तज्जनित राजनीतिक परिणाम की चर्चा तिरुवेन्दिपुरम् अभिलेख और कालकलभ की रचना 'गद्यकर्णामृत' में है।

पाण्ड्य अभिलेखों का विवरण है कि आक्रमक चोलों को पराङ्मुख करने में मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य के सैनिक सफल हुए। राजराज तृतीय परास्त होकर

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भागा। उसके हरम की प्रधान रानी सहित बहुत सी स्त्रियां पाण्ड्य सैनिकों द्वारा बन्दी बना ली गयीं और उन्हें मुण्डीकोण्ड शोलपुरम् में पाण्ड्यों द्वारा आयोजित 'विजयाभिषेक' में अभिषेक घट ढोना पड़ा। तिरुवेन्दिपुरम् अभिलेख के अनुसार पाण्ड्यों द्वारा पराजित होकर राजराज राजधानी छोड़कर सपरिवार कुंतल की ओर भागा। किन्तु मार्ग ही में वह काडव सामन्तों द्वारा आकस्मिक रूप से आक्रान्त हुआ। काडव सैनिक राजराज तृतीय को पकड़कर घसीटते हुए अपने नगर जयन्तमङ्गलू की ओर ले भागे। किन्तु होयसल सामान्त नरसिंह, जो काडवों का प्रतिद्वन्द्वी भी था, सहायतार्थ दौड़ा और कावेरी के तटपर श्रीरङ्गम् तक पहुँचा। वहां से अपने दण्डनाथ और सामन्तों द्वारा राजराज तृतीय को मुक्त कराने में सफल हुआ। इस संदर्भ में नरसिंह ने काडवों के सहायक पाण्ड्य और सिंहल के राजाओं को भी परास्त किया। किन्तु यह कहना कठिन है कि नरसिंह द्वारा पराजित सिंहल नृप कौन था। तिरुवेन्दिपुरम् अभिलेख में सिंहलनृप का नाम पराक्रमबाहु अंकित है किन्तु पाराक्रमबाहु की ठीक-ठीक पहचान अभी तक सम्भव नहीं है। काडव सामन्तों का नेतृत्व कोपेरुजिङ्ग कर रहा था जिसे इस अभिलेख के संस्कृत अंश में महाराजसिंह कहा गया है। कोपेरुजिङ्ग ने नरसिंह से हार कर सन्धि कर ली और चोलों के प्रति अपनी निष्ठा रखने का वचन दिया। पाण्ड्यों के विरुद्ध नरसिंह स्वयं अग्रसर हुआ। कावेरी तट पर स्थित महेन्द्र-मङ्गलम् के पास होयसल और पाण्ड्य सेना में भिडन्त हुई। पाण्ड्य पराजित हुए और होयसल सैनिक रामेश्वरम् तक पहुँच गये। इस प्रकार होयसलों के हस्तक्षेप से दक्षिणभारत की राजनीति में पुनः शक्तिसंतुलन स्थापित हुआ और चोल साम्राज्य विनष्ट होने से बचकर अपनी पारस्परिक राजनीतिक स्थिति बनाये रखने में सफल हुआ। चोलों और होयसलों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। वीर नरसिंह का पुत्र वीर सोमेश्वर चोल कन्या से विवाहित हुआ।

राजराज तृतीय के जीवनकाल में अन्य कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना न घटी और वह आजीवन अपनी सीमित चोल समृद्धि का उपयोग करता रहा। उसका उत्तराधिकारी राजेन्द्र तृतीय उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिमान् था। वह अपनी राजनीतिक प्रतिभा का उपयोग करके चोल समृद्धि में विकास सम्भव करता किन्तु तत्कालीन राजनीतिक वातावरण के कारण उसे अपेक्षित सफलता न मिली। १२४६ ई० में वह पिता द्वारा युवराज नियुक्त हुआ था। तभी से उसने चोलों की विचलित राज्यश्री को स्थिर करने की चेष्टा की थी।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्तिसम्पन्न होने पर उसने पाण्ड्यों से अपने पिता के अपमान का बदला लिया। यद्यपि होयसल और चोल अभिलेखों में राजेन्द्र की पाण्ड्यों के विरुद्ध प्राप्त सफलता का उहापोह वर्णन है किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि जब तक मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम पाण्ड्य राजपीठ पर आसीन रहा राजेन्द्र को उसके विरुद्ध कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के बाद स्थिति में परिवर्तन हुआ। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम का उत्तराधिकारी मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय (१२५८ ई०) के शासनकाल में राजेन्द्र ने पाण्ड्य जनपद को आक्रान्त किया और पाण्ड्य नृप को आधीनता मानने के लिये विवश किया। राजेन्द्र की इस सफलता के मूल में होयसल नृप सोमेश्वर का भी विशेष हाथ था। किन्तु शीघ्र ही सोमेश्वर ने राजेन्द्र के प्रति मैत्री की नीति का परित्याग कर दिया और दक्षिण भारत में शक्ति-संतुलन के लिये वह चोलों के विरुद्ध पाण्ड्यों की सहायता करने लगा। मैसूर से प्राप्त कुछ अभिलेखों में वीर सोमेश्वर को 'पाण्ड्यकुल-संरक्षणदक्ष दक्षिणभुजा' कहा गया है। १२४१ से १२४५ ई० के बीच वीर सोमेश्वर के सामन्त और दण्डनाथों ने चोल साम्राज्य को आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया था और उसका कुछ अंश अधिकृत भी कर लिया था। होयसलों के इस परिवर्त्तित व्यवहार के कारण राजेन्द्र चोल ने तेलुगु चोडों से मैत्री-सम्बन्ध की स्थापना की। नेल्लोर, चिङ्गलेपुट और कुडपह के क्षेत्र में तेलुगु चोड बड़े प्रभावशाली हो रहे थे। तिक्क नृपति उपनाम गङ्गोपाल तेलुगु चोडों का नृप था और राजेन्द्र तृतीय का समकालीन था। होयसलों से उसकी प्रतिद्वन्द्विता भी थी। तिक्कन कवि का 'विवेचनोत्तररामायणमु' में तेलुगु चोडों और चोलों के मैत्री सम्बन्धों अच्छी चर्चा है। उसके अनुसार तिक्क तेलुगु चोड सैनिकों को लेकर शम्बुराज आदि विद्रोही सामान्तों पर टूट पड़ा। काञ्ची, चेदिमण्डल और काडवपति (केपेरुजिङ्ग ?) को राजेन्द्र चोल की आधीनता मानने के लिये विवश किया। तिक्कन कवि के अनुसार तिक्क ने करण्ट नृप सोमेश्वर को भी पराजित किया था। राजेन्द्र की प्रशस्ति में इसका भी वर्णन है कि उसने 'वीर राक्षसों' को भी पराजित किया। ये 'वीर राक्षस' वस्तुतः उत्तरी अर्काट के शाम्बुराय कुल के थे।

१२५० ई० तक राजेन्द्र की स्थिति पुनः दृढ़ हो गयी। उसके अनेक विद्रोही सामन्त उसके वशीभूत हो गये। यदि होयसल चोलों के विरुद्ध न गये होते तो सम्भवतः पाण्ड्यों पर भी राजेन्द्र की वही धाक जम जाती जो

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कई पुश्तों पहले थी। किन्तु होयसल की मैत्री ने पाण्ड्यों को चोलों की अपेक्षा बड़ा प्रबल बना दिया था। इसी बीच काकतीयों से भी राजेन्द्र को क्षति उठानी पड़ी। काञ्ची से राजेन्द्र चोल का अन्तिम अभिलेख १२४५ ई० का उपलब्ध हुआ। किन्तु इस क्षेत्र से काकतीय नरेश गणपति का लेख १२४९ ई० का उपलब्ध हुआ है। गणपति और तिक्क (चोडगंग) परस्पर मित्र थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि चोड गंगों ने काञ्ची पर अधिकार करने के बाद गणपति की संरक्षकता में काञ्ची को छोड़ दिया। गणपति औपचारिक दृष्टि से राजेन्द्र तृतीय की संप्रभुता को मान्यता देता रहा। इस प्रकार धीरे-धीरे काञ्ची चोलों की मुट्ठी से निकल गया। इसी बीच (१२५० ई० के आसपास) दक्षिणभारत की राजनीतिक गुटबन्दी में पुनः परिवर्तन हुआ। होयसल बढ़ती पाण्ड्य शक्ति के प्रति सशंक हुये और पुनः चोलों के मित्र बने। पाण्ड्य नृप जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य पूर्व पाण्ड्य नृपों की अपेक्षा अधिक शक्तिमान् और प्रबल था। उसने काञ्ची को आक्रान्त किया और वहां से काकतीय गणपति को भगा दिया। १२५८ ई० तक उसने राजेन्द्र चोल को भी पराजित किया और होयसलों को भी हराया। सोमेश्वर को मैसूर क्षेत्र से हट जाना पड़ा। अन्त में कन्नानूर के संग्राम में (१२६४ ई०) सोमेश्वर स्वयं भी पाण्ड्यों द्वारा पराजित होकर मारा गया। इसके कुछ ही दिनों बाद जटावर्मन् ने सुन्दर पाण्ड्य काडवों और तेलुगु चोडों को पराजित किया और नेल्लूर तक के क्षेत्र को अधिकृत किया। राजेन्द्र चोल और वीर रामनाथ (सोमेश्वर का उत्तराधिकारी) दोनों ही कालान्तर में (१२७९ ई०) में मारवर्मन् कुलशेखर (सुन्दर पाण्ड्य का उत्तराधिकारी) द्वारा अन्तिम बार पराजित होकर अपनी राजनीतिक महत्ता को खो बैठे। राजेन्द्र तृतीय स्वयं अब चोल सम्राट् न होकर पाण्ड्यों का सामान्त बनने को विवश हुआ।

सुन्दर पाण्ड्य का यह आक्रमण चोल साम्राज्य और समृद्धि पर अन्तिम प्रहार था। इससे आहत होकर चोल-प्रतिभा सदा के लिये कुण्ठित हो गयी और उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। इसके बाद राजेन्द्र और उसके उत्तराधिकारी आसपास के सामन्तों पर नाममात्र के प्रभाव का आरोप करते हुए गंगैकोण्डचोलपुरम् में पाण्ड्यों के सामान्त रूप में जीवित रहे किन्तु उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा नगण्य रही। चोलों के पराभव से पाण्ड्यों की प्रतिष्ठा बढ़ी और सम्पूर्ण तेरहवीं शती के राजनीति के वे ही वास्तविक सूत्रधार बने रहे।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तञ्जोर के चोलों की वंश-तालिका

- विजयालय (ल० ८४६-८७१ ई०)
  - आदित्य प्रथम (८७१-९०७ ई०)
    - परान्तक प्रथम (९०७-९५५ ई०)
      - राजादित्य (९४९ ई०)
      - गंडरादित्य (९४९-९५९ ई०)
        - मधुरान्तक उत्तम चोल (९७०-९८५ ई०)
      - अरिञ्जय (९५६-९५७ ई०)
        - परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल (९५६-९७३ ई०)
          - आदित्य द्वितीय (करिकाल)
          - राजराज (९८५-१०१४ ई०)
            - राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४ ई०)
              - राजाधिराज (१०१८-१०५२ ई०)
              - राजेन्द्र द्वितीय (१०५२-१०६४ ई०)
                - मधुरान्तकी (कुलोतुङ्ग प्रथम से विवाहित)
                  - अमङ्गा देवी
              - वीर राजेन्द्र (१०६३-१०७० ई०)
                - अधिराजेन्द्र (१०६७-१०७० ई०)
            - कुन्दवा (पूर्वी चालुक्य वंशीय विमलादित्य से विवाहित)
              - राजराज नरेन्द्र (पूर्वी चालुक्य वंशीय और अमङ्गा देवी से विवाहित)

अमङ्गा देवी + राजराज नरेन्द्र

- कुलोतुङ्ग प्रथम (१०७०-११२० ई०)
  - राजराज
  - मुम्मुडि चोल
  - वीर चोल
  - विक्रम चोल (१११८-११३५ ई०)
    - कुलोतुङ्ग द्वितीय (११३३-११५० ई०)
      - राजराज द्वितीय (११४६-११७३ ई०)
        - राजाधिराज द्वितीय (११६३-११७९ ई०)
          - कुलोतुङ्ग तृतीय (११७८-१२१६ ई०)
            - राजराज तृतीय (१२१६-१२४६ ई०)
              - राजेन्द्र तृतीय (१२४६-१२७९ ई०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय १०

द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य

पिछले अध्यायों में चोलों के प्रसंग में पाण्ड्य जनपद और उनके राजाओं की चर्चा हुई है। इसके पूर्व की पाण्ड्यों के द्वितीय साम्राज्य का विवरण प्रस्तुत किया जाय यहाँ उचित है कि एकबार दसवीं शती से तेरहवीं शती की अवधि में चोल-पाण्ड्य सम्बन्धों की पुर्नसमीक्षा कर ली जाय। इस अवधि में पाण्ड्य नृपों का इतिहास बड़ा ही विवादपूर्ण और अस्पष्ट है। पाण्ड्यनृपों में स्वाधीनता के प्रति प्रबल उत्साह था और वे सदैव चोलों से मुक्त होने की चेष्टा करते रहते थे। फिर भी ज्ञात प्रमाण यही सिद्ध करते हैं कि चोलों के अभ्युदय और उत्कर्षकाल में पाण्ड्यों की एक न चली और वे स्वतंत्र तथा संप्रभुता प्राप्त पाण्ड्य राज्य का संगठन न कर सके। मूल पाण्ड्यवंश परम्परा चलती तो रही किन्तु राजनीतिक दृष्टि से उन पर समकालीन चोल नृपों का नियंत्रण भी बना रहा। चोलों और पाण्ड्यों की राजनीतिक कशमकश में पाण्ड्य जनपद में राजनीतिक अस्थिरता तो रहती ही थी साथ ही समय-समय पर आक्रमण और प्रत्याक्रमण की परिस्थिति में पाण्ड्य जनपद में अव्यवस्था और अराजकता का भी वातावरण प्रस्तुत हो जाया करता था। पराजित पाण्ड्यों के दमन के व्याज से कभी-कभी चोलों द्वारा पाण्ड्य जनपद में भयंकर रक्तपात और तज्जनित अकाल आदि से पाण्ड्य जनपद को त्रस्त होना पड़ता था।

राजनीतिक दृष्टि से पाण्ड्य नृपों का केरल, कोङ्गु जनपद और सिंहल के साथ सौहार्द बना रहा। कभी-कभी पाण्ड्य नृपों में आन्तरिक द्वन्द्व भी हो जाया करता था, जो प्रायः उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर हुआ करता था।

चोल-पाण्ड्य राजनीतिक सम्बन्धों की क्रमबद्ध संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार होगी :—

९२० ई० में परान्तक चोल का आधिपत्य पाण्ड्य जनपद पर तब स्थापित हुआ जब कि राजसिंह द्वितीय श्री पुरम्बियम् के युद्ध में पराजित होकर सिंहल भाग चुका था। उसके शासन के अन्तिम वर्षों में (९४९ ई० के पूर्व ही) जब चोल स्वयं भी कृष्ण तृतीय (राष्ट्रकूट) से आक्रान्त हुये तो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनकी भी स्थिति पाण्ड्य जनपद में डाँवाडोल हो गयी। इस अवधि में पाण्ड्य राजवंश के कई राज्य उठ खड़े हुए थे। कोई वीर पाण्ड्य नामक नृप बड़ा प्रबल सिद्ध हुआ और 'उसने किसी चोल नृप का सिर काट लिया था'। यह कहना कठिन है कि इस वीर पाण्ड्य द्वारा कौन चोल नृप मारा गया था। सम्भवतः यह चोल नृप केवूर संग्राम का योद्धा परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल था। किन्तु वीर पाण्ड्य की सफलता क्षणिक रही। परान्तक द्वितीय का उत्तराधिकारी बड़ा प्रबलप्रमाणित हुआ और उसने पाण्ड्य जनपद में चोल शासन को प्रभावशाली बनाया। उत्तम चोल की भी उपाधि 'मधुरान्तक' थी किन्तु उसके किसी पाण्ड्य अभियान का प्रमाण नहीं मिलता। आदित्य द्वितीय के भी शासन काल में पाण्ड्य नृप वशीकृत रहे। राजराज प्रथम ने रही सही कसर पूरी की। एक अभिलेख के अनुसार राजराज प्रथम ने पाण्ड्यों (शेलियों) की शानशौकत तुरन्त धूल में मिला दी। किन्तु राजराज और पाण्ड्यों के बीच हुये किसी युद्ध का पूर्ण विवरण ज्ञात नहीं है। ९९४ ई० के बाद ही वह 'तिरुमगट्पाल' की उपाधि धारण करने लगा था जो उसके पाण्ड्यों के ऊपर स्थापित प्रभुत्व का द्योतक है। वेङ्कैया महोदय ने अभिलेखकीय अनुशीलन के आधार पर यह तथ्य निकाला है कि राजराज प्रथम को पाण्ड्यों को पराभूत करने के लिये कई युद्ध करने पड़े। चोलों ने पाण्ड्यों से कान्दालूर और विलिन्म के दुर्गों को छीन लिया। कान्दालूर दुर्ग को हस्तगत करने में चोलों को पाण्ड्यों के अतिरिक्त चेरों के साथ भी युद्ध करना पड़ा। राजराज प्रथम द्वारा प्रकाशित अनेक अभिलेख पाण्ड्य जनपद में प्राप्त हुये हैं जो पाण्ड्य जनपद में उसके राजत्व के सूचक हैं। ये अभिलेख उसके शासन के नवें राजवर्ष से लेकर बीसवें राजवर्ष में प्रकाशित किये गये थे। राजराज प्रथम का प्रशासन पाण्ड्य जनपद में इतना मूलबद्ध था कि पाण्ड्य जनपद के लिये चोल अभिलेखों में 'राजराज मण्डलम्' और 'राजराज पाण्डिनाडु' जैसे पद प्रचलित हो गये थे। यहाँ तक कि पाण्ड्य जनपद की कुछ भुक्तियों के लिये 'पाण्ड्य कुलाशनि वलनाडु' जैसे नाम भी प्रचलित थे। पाण्ड्य जनपद पर चोल सैनिकों का इतना प्रभाव था कि जब उन्हें लंका पर अभियान करना होता तो वे पाण्ड्य जनपद में स्थित समुद्रपत्तनों का व्यवहार सैनिक अधिष्ठान और आधार के लिये करते थे। इस अवधि में आनुवंशिक पाण्ड्य शासकों की परम्परा का पुरुषार्थ केवल आत्मरक्षा तक ही सीमित था और वे चोलों की अधीनता का बोझ चुपचाप ढोते रहे। राजेन्द्र चोल के

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासनकाल में (१०१२-१०४४ ई०) पाण्ड्य की स्वातंत्र्य-भावना और भी कुण्ठित थी। राजेन्द्र के शासन के दसवें वर्ष में पाण्ड्यों का एक संघर्ष चोल सैनिकों के साथ होना प्रमाणित है। सम्भवतः इसी विजय के उपलक्ष में राजेन्द्र चोल ने 'मधुरान्तक' का विरुद् धारण किया था। किन्तु राजेन्द्र के पाण्ड्य प्रतिद्वन्द्वी का पता नहीं चल पाता। अनुमानतः वह श्री वल्लभ अथवा इसका उत्तराधिकारी था जिसे राजेन्द्र चोल द्वारा परास्त किये जाने पर अगस्त पर्वत की शरण लेनी पड़ी थी। १०२०ई० चोलों ने मदुरा का पुनर्विजय किया था। वहाँ राजेन्द्र ने एक विशाल राजमहल का निर्माण भी कराया और पाण्ड्य जनपद पर चोल-प्रशासन की स्थिरता के लिये चोल परिवार के किसी व्यक्ति अथवा युवराज को उपराजा के रूप में नियुक्त करने की प्रशासनिक परम्परा चलायी थी। इस परम्परा का निर्वाह राजेन्द्र प्रथम के वंशधरों ने शताधिक वर्षों तक किया। पाण्ड्य जनपद के प्रशासन के लिये राजेन्द्र चोल द्वारा नियुक्त प्रथम उपराजा उसका पुत्र जटावर्मन् सुन्दर चोल पाण्ड्य था।

राजेन्द्र चोल और कुलोतुङ्ग प्रथम वे बीच के सभी चोल शासकों ने पाण्ड्यों को पराजित करने का सेहरा अपने शिर चढ़ाया है। किन्तु इनके अभियानों का इतिहास संदिग्ध है। किन्तु राजाधिराज प्रथम (१०४४–१०५४ ई०) के शासन काल में पाण्ड्योंके तीन नेताओं ने जिनके नाम मानाभरण, वीर केरलन् और सुन्दर पाण्ड्य थे, चोलों के प्रसासन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया था। राजाधिराज ने इन तीनों ही पाण्ड्यों को पराभूत किया था। कुलोतुङ्ग (१०७० ई०–११२० ई०) की पाण्ड्य नीति परम्परागत नहीं रह गयी थी। उसने पाण्ड्यों पर उग्र प्रशासन की नीति का परित्याग कर दिया था। उसके शासनकाल में पाण्ड्य जनपद पर कोई उपराजा नहीं नियुक्त था। इससे पाण्ड्य स्वातंत्र्य भावना को पल्लवित और पुष्पित होने को पर्याप्त अवकाश मिला। जटावर्मन् श्रीवल्लभ नामक पाण्ड्य नृप ने तिन्नेवेल्लि और मद्रुरा के क्षेत्रों को चोलों के चङ्गुल से छुड़ा लिया। इन इलाकों में कम से कम वह तेइस वर्षों तक स्वतंत्र शासक की हैसियत से शासन करता रहा। जटावर्मन् श्रीवल्लभ कुलोतुङ्ग प्रथम का समकालीन प्रतीत होता है। वीर पाण्ड्य और परान्तक पाण्ड्य प्राप्त प्रमाणों के अनुसार जटावर्मन् श्रीवल्लभ के दो सह शासक भी थे, उनकी स्वतन्त्र अवस्थिति का ठीक-ठीक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ऐसी भी मान्यता है कि जटावर्मन् श्रीवल्लभ को दो बार कुलोतुङ्ग से युद्ध करना पड़ा था। पहले में वह चार अन्य पाण्ड्य राजाओं के साथ पराजित हो गया था,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु दूसरे युद्ध में विजयी होने के कारण मदुरा और तिन्नेवेलि के क्षेत्र में स्वतंत्र पाण्ड्य राज्य की स्थापना में समर्थ हुआ था। जटावर्मन् श्रीवल्लभ का उत्तराधिकारी मारवर्मन् त्रिभुवनचक्रवर्तिन् पराक्रम पाण्ड्य देव भी कुलोतुङ्ग चोल का समकालीन प्रतीत होता है। इसके शासनकाल का पाण्ड्य इतिहास ज्ञात नहीं है। इसका उत्तराधिकारी मारवर्मन् पराक्रम पाण्ड्य था। इसके कन्याकुमारी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसने चेरों को पराधीन किया और उन्हें करदीकृत किया। कूपक के राजा (दक्षिणी त्रावंकोर के पास) को हराया और उसकी कन्या से अपना विवाह किया। विलिञ्म, कान्दाळूर, शालै के दुर्ग को अधिकृत किया तथा दक्षिणी कलिङ्ग तथा तेलिङ्ग भीम को पराभूत किया। यह प्रशस्ति उसके शासन के नवें वर्ष में प्रकाशित हुई थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मारवर्मन् पराक्रम पाण्ड्य की उक्त सभी उपलब्धियाँ स्वतंत्र शासक के रूप में न थीं। कुलम् के तेलिङ्ग भीम इल्लौर के नायक प्रतीत होता हैं, जिसे पराक्रम पाण्ड्य ने विक्रम चोल के लिये विजित किया था। इसके बाद का पाण्ड्य शासक मारवर्मन् श्रीवल्लभ था जो ११६० ई० के लगभग शासन करता था। सम्भवतः इसी का नाम कुलशेखर भी था, जिसके उत्तराधिकार सम्बन्धी गृहयुद्ध में चोलों को सक्रिय भाग लेना पड़ा था।

कुलशेखर द्वारा जिस गृहयुद्ध का सूत्रपात हुआ उसका प्रभाव दीर्घकालीन रहा। इस गृहयुद्ध का विवरण 'महावंश' में सुरक्षित है। परकेशरीवर्मन् राजाधिराजदेव के अरपक्कन् अभिलेख से, राजकेशरी वर्मन् राजाधिराज के तिरुवालङ्गाडु शिलालेख से, राजकेशरीवर्मन् त्रिभुवनचक्रवर्तिन् राजाधिराजदेव के पल्लवरायनपेट्टै अभिलेख से, और कुलोतुङ्ग तृतीय के तिरुकोल्लम्बूदूर शिलालेख से भी पाण्ड्य गृहयुद्ध का विवरण ज्ञात होता है।

'महावंश' के अनुसार पराक्रमबाहु प्रथम (लंका) के सत्रहवें शासन वर्ष में (११६८-६९ ई०) पाण्ड्य राजवंश गृहयुद्ध में फँस गया। मदुरा परम्परागत राजवंश से निकल कर पराक्रम पाण्ड्य के आधीन हो गया था। यह पराक्रम पाण्ड्य मुख्य पाण्ड्य राजवंश परम्परा का नहीं था। यह भी कहना कठिन है कि कैसे मुदुरा पर इसका अधिकार स्थापित हुआ। मुख्य पाण्ड्य वंश-परम्परा का उत्तराधिकारी कुलशेखर था जो सम्भवतः मारवर्मन् श्रीवल्लभ का पुत्र भी था। कुलशेखर ने पराक्रम पाण्ड्य को आक्रान्त किया। पराक्रम पाण्ड्य ने सिंहल नृप पराक्रमबाहु से सहायता की याचना की। लंका से एक महती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेना लंकापुर दण्डनायक के सेनापतित्व में भेजी गयी। किन्तु इसके पूर्व कि लंका की सेना मदुरा पहुँचती कुलशेखर ने मदुरा छीन लिया और पराक्रम पाण्ड्य को परिवार सहित मौत की घाट उतार दिया। सेनापति लंकापुर ने मदुरा पहुँच कर कुलोतुङ्ग को पराजित किया और वीर पाण्ड्य नामक एक अन्य पाण्ड्य राजकुमार को मदुरा के राजपीठ पर आसीन कराया। तदुपरान्त कुलशेखर ने चोलों से सहायता की याचना की। समकालीन चोल नृप राजाधिराज देव ने कुलोतुङ्ग की सहायता की। 'महावंश' के अनुसार कुलशेखर और चोल दोनों ही लंकापुर द्वारा पराजित हुए और वीर पाण्ड्य की राजसत्ता सेनापति लंकापुर की संरक्षकता में अक्षुण्य रही। किन्तु 'महावंश' के इस वर्णन में आंशिक अशुद्धि है। इस विवरण का अन्तिम अंश एकपक्षीय प्रतीत होता है। अरपाक्कम् (११६७ ई० में प्रकाशित) और पल्लवरायनपेट्टै अभिलेख (राजाधिराज के आठवें शासन वर्ष में अर्थात् ११६९ ई० के आसपास प्रकाशित) 'महावंश' के विपरीत यह सिद्ध करते हैं कि चोलों की सहायता से कुलशेखर लंकापुर तथा उसके सहायक सेनापति जयद्रथ अथवा जगद्विजय (जगतविजय) को पराजित कर उनको लंका भगा दिया। इसके बाद प्रायः एक दशक तक कुलशेखर के लिये पाण्ड्य राजपीठ निरापद रहा। उसका उत्तराधिकारी विक्रम पाण्ड्य था। इसके राजत्व प्राप्ति के साथ ही वीर पाण्ड्य ने पुनः गृहयुद्ध छेड़ दिया। इस बार भी उसे सिंहल नरेश की सहायता प्राप्त थी। फलतः विक्रम पाण्ड्य की सहायता के लिये चोल नृप राजाधिराज भी सन्नद्ध था। कुलोतुङ्ग तृतीय के एक अभिलेख के अनुसार (११८२ ई० में प्रकाशित) चोल सैनिकों ने मदुरा पर अधिकार कर लिया। वीर पाण्ड्य को मदुरा से भगाने के बाद पराजित सिंहल सैनिकों की नाक कटवा ली। मदुरा में चोलों ने विजयस्तम्भ की भी स्थापना की। कुलोतुङ्ग के कई अन्य अभिलेख भी उपलब्ध हैं जो वीर पाण्डय के द्वितीय उत्तराधिकार युद्ध का विवरण प्रस्तुत करते हैं। इनसे यह सूचना मिलती है कि इस उत्तराधिकार युद्ध में कुलोतुङ्ग तृतीय ने भी सक्रिय भाग लिया था। वीर पाण्ड्य को पराजित कर उसने ११८२ ई० के लगभग 'वीराभिषेक' किया था।

विक्रम पाण्ड्य जब गृहयुद्ध से मुक्त हो गया तो उसे पाण्ड्य समृद्धि को संजोने का उचित अवसर मिला। यह अन्तिम अवसर था जब उसे अपने राजत्व के लिये चोलों का मुखापेक्षी होना पड़ा था। इसके बाद से वह स्वयं पाण्ड्य राजपीठ को संभालने में समर्थ हुआ। इसके विरुद्ध, जैसा कि ऊपर

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिखा जा चुका है (द्रष्टव्य पृ० १३५–१३६) चोलों का पराभव प्रारम्भ हो गया। विक्रम पाण्ड्य ने जीवन पर्यन्त कुलोतुङ्ग से मैत्री सम्बन्ध का निर्वाह किया किन्तु उसका उत्तराधिकारी जटावर्मन् कुलशेखर (११९० ई०) पैत्रिक नीति का परित्याग करके कुलोतुङ्ग का शत्रु बन बैठा। वस्तुतः इसी समय से समस्त तेरहवीं शती तक पाण्ड्य-चोल वैर पल्लवित होता गया जिसकी परिणति चोल सामाज्य के विनाश से हुई।

खेद है कि विक्रम पाण्ड्य के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में उपलब्ध अभिलेख पाण्ड्य वंश परम्परा की रूपरेखा प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हैं। इन अभिलेखों में वर्णित समसामयिक राजवंश, नृप और घटनाओं के उल्लेख से पाण्ड्य राजवंश के नृपों का क्रम स्थिर करने में थोड़ी सहायता मिलती है। अनेक पाण्ड्य नृपों तथा 'तीन पाण्ड्य' और 'पंच पाण्ड्य' जैसे युक्तियों का उल्लेख कभी-कभी ऐसा भी आभास देता है मानों विक्रम चोल के उत्तराधिकारी अनेक पाण्ड्य राज्यों में विभक्त हों।

जटावर्मन् कुलशेखर मदुरा के पाण्ड्य राजपीठ पर १०९० ई० से १२१६ ई० तक आसीन रहा। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार यही विक्रम पाण्ड्य का उत्तराधिकारी था। इसकी उपाधि 'राजगम्भीर' भी थी। इसके अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं जिनके प्राप्ति-स्थान के आधार पर यह तथ्य निरूपित होता है कि जटावर्मन् कुलशेखर ने केवल पाण्ड्यों की स्वाधीनता सुरक्षित रखी अपितु पाण्ड्य साम्राज्य की व्याप्ति में मदुरा, रामनाड और तिन्नेवेल्लि जिले समाहित हुये। ट्रावंकोर जिला भी उसके प्रभाव क्षेत्र में था। इसके राजनीतिक उपलब्धियों की पूर्ण सूचना उपलब्ध नहीं है। इसका उत्तराधिकारी मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य था (१२१६–१२३२) जो सम्भवतः इसका भाई ही था। पाण्ड्यों के द्वितीय साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक यही मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ही था। राज्यारोहण के साथ ही इसने चोल साम्राज्य को आहत किया। इसके शासन के तीसरे वर्ष का एक लेख उपलब्ध है जो इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि इस १२१९ ई० के कुछ पूर्व ही इसने चोल साम्राज्य का कुछ अंश अधिकृत कर लिया था। उसके तिरुप्परङ्कुणरम् अभिलेख, जो उसके सातवें राजत्व वर्ष में प्रकाशित हुआ था उसके आरम्भिक विजयों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करता है। इस अभिलेख के अनुसार मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य राज्याभिषेक के बाद चोलों के विरुद्ध महती सेना लेकर निकल पड़ा। उसने चोलों के प्रसिद्ध नगर तंजोर और उरैयूर को अधिकृत कर लिया और आसपास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के क्षेत्रों को भस्मीभूत कर दिया। चोल सैनिक राजा (कुलोत्तुङ्ग तृतीय) सहित पलायित हो गये। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने चोल राजसभा में अपना वीराभिषेक किया और तदुपरान्त चिदम्बरम् के मन्दिर में नटराज की पूजा की। पाण्ड्य अभिलेख के विवरण के अनुसार अनुकम्पावश मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने कुलोत्तुङ्ग तृतीय को उसका राजपाट लौटा दिया। किन्तु तथ्य यह था कि उसे तत्कालीन राजनीति से विवश होकर अपना विजित छोड़ना पड़ा। होयसल नरेश नरसिंह स्वयं पाण्ड्यों के विरुद्ध बढ़ रहा था जिसके प्रभाव में आकर मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने चोलों से जीता राजपाट छोड़ मदुरा चला गया। (द्रष्टव्य पृ० १३२–१३३)

कुलोत्तुङ्ग के मरने पर राजराज तृतीय ने पाण्ड्य नृप मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के साथ मैत्री सम्बन्ध का निर्वाह न किया। पाण्ड्य अभिलेखों के अनुसार स्वयं राजराज तृतीय ने ही सन्धि की शर्तें तोड़ीं और पाण्ड्य जनपद को आक्रान्त किया। किन्तु इसका बड़ा ही दुखद परिणाम राजराज तृतीय को भोगना पड़ा क्योंकि मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने दूसरी बार भी चोलों को पूर्ववत् परास्त किया। (द्रष्टव्य पृ० १३३–१३४) किन्तु इस बार भी उसे होयसलों के हस्तक्षेप के कारण चोलों को उनका क्षेत्र वापस कर दिया।

मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के द्वितीय चोल-अभियान की निश्चित् तिथि नहीं बतायी जा सकती। किन्तु यह युद्ध उसके सातवें और बीसवें राजत्व वर्ष के बीच अर्थात् १२२३ ई० और १२३५–३६ ई० के बीच कभी हुआ था। इसके पूर्व ही वह कोङ्गु जनपद को अपने प्रभाव में ला चुका था। कोङ्गु जनपद दो राज्यों में विभक्त था—एक उत्तरी कोङ्गु और दूसरा दक्षिणी कोङ्गु राज्य। दोनों राज्य परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे और दोनों ही एक दूसरे की शिकायत करते हुये पाण्ड्यराज मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के शरणापन्न हुये। सुन्दर पाण्ड्य ने परिस्थिति का लाभ उठाया और दोनों से उनके राज्य का कुछ अंश छीन कर उन्हें करदीकृत किया।

सुन्दर पाण्ड्य का वैवाहिक सम्बन्ध उदीयमान् होयसलों से भी स्थापित था। सम्भवतः मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य का विवाह सोमेश्वर की भगिनि से हुआ था। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय ने अपने एक अभिलेख में सोमेश्वर को 'मामडी' कहा है। इस वैवाहिक सम्बन्ध का होयसल-पाण्ड्य राजनयिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के विजयों और नीतियों के परिणाम से पाण्ड्यों की द्वितीय साम्राज्य स्थिर हो गया। पाण्ड्य जनपद में उसका राज्य स्थिर था ही, साथ ही पदुकोटा और त्रिचनापल्ली भी उसके अधीन हो गये थे। उसकी वीरता और ऐश्वर्य की झलक उसकी उपाधियों से मिलती है। उसके सिक्कों पर 'शोणाडुकोण्डन्' की उपाधि मिलती है। अभिलेखों में वह 'कलियुग राम' और 'अतिशयपाण्ड्यदेव' की उपाधि से लोकप्रिय था।

मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य का अन्तिम ज्ञात अभिलेख उसके तेइसवें राजत्व वर्ष में प्रकाशित हुआ था। इसके अनुसार उसके राजत्व का अन्त १२३८ ई० के लगभग हुआ प्रतीत होता है। इसके बाद जटावर्मन् कुलशेखर का शासन हुआ। इसके राजत्व में पाण्ड्य जनपद की क्या स्थिति थी—कहना कठिन है। इसका शासन काल भी अत्यन्त अल्प था। इसके बाद मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय शासक हुआ। इसका राजपद १२३८ ई० में प्रारम्भ हुआ और १२५१ ई० तक वह शासन करता रहा। इसके शासन काल में पाण्ड्य साम्राज्य और समृद्धि को कोई क्षति नहीं पहुंची और इसका राजनयिक सम्बन्ध चोल और होयसलों से यथास्थिति बना रहा। इसका उत्तराधिकारी जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य था जो द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य का सबसे प्रतापी नृप था। इसके राजत्व की अवधि में (१२५१–१२६८ ई०) सम्पूर्ण दक्षिण भारत में पाण्ड्य साम्राज्य की व्याप्ति हुई और पाण्ड्यों के समस्त राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी एक-एक करके प्रताड़ित हुये। चोलों का तो अस्तित्व ही नगण्य हो गया और होयसल भी अपनी साम्राज्यवादी चेष्टाओं में नियंत्रित हुये और उनको मैसूर के आसपास ही सीमित रह जाना पड़ा। कोङ्गु जनपद पाण्ड्य साम्राज्य का अङ्ग बन गया तथा केरल के नृप जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वारा करदीकृत किये गये। (लंका द्वीप पर भी पाण्ड्यों का अधिकार हुआ।)

उसके विभिन्न तमिल और संस्कृत अभिलेखों के आधार पर उसके विजयों का क्रम निर्धारित किया जा सकता है। सर्वप्रथम उसका संघर्ष चेरों से हुआ। उसने चेर जनपद को बड़ी छोटी सेना द्वारा आक्रान्त किया और वहां के नृप उदयमार्तण्ड से बड़ी सरलता से मलैनाडु को जीत लिया। इसी प्रकार चोलों को भी परास्त कर उसने उन्हें कर देने के लिये बाध्य किया। तदुपरान्त कावेरी के क्षेत्र में होयसलों को घेर कर उन्हें पराजित किया और उनसे अनेक दुर्ग, हाथी, घोड़े और स्त्रियाँ छीन लीं। होयसलों का प्रसिद्ध शूरमा शिङ्गण अनेक अन्य योधाओं के साथ मारा गया। उनसे कन्ननूर कोप्पम् भी छीन लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करण्ट राजाओं को हाथी के रूप में भेंट प्रस्तुत करने के लिये विवश किया और लंका के राजा को मोती तथा हाथी के रूप में भेंट प्रस्तुत करने के लिये बाध्य किया। पल्लवों से (सम्भवतः यह काडववंशीय कोप्पेरुञ्जिग था) उसने शेन्डमङ्गलम् का नगर छीन लिया। कोङ्गु जनपद को भी उसने अधिकृत किया और एक अन्य युद्ध में होयसल नृप सोमेश्वर को मार डाला (द्रष्टव्य पृ० १६८–१६९)। इन विजयों के उपलक्ष में उसने चिदम्बरम् के मंदिर में नटराज की पूजा की और श्रीरङ्गम् में तुलाभार यज्ञ किये।

ये समस्त विजय उसने अपने शासन के सातवें वर्ष तक कर लिये थे। इस अवधि तक पाण्ड्य साम्राज्य के अन्तर्गत ट्रावङ्कोर, त्रिचनापल्ली, तञ्जोर, दक्षिणी अर्काट शामिल थे। चूंकि इस समय तक उसके आधिपत्य में काडवों का मगडै और कोङ्गु जनपद भी आ चुका था अतएव उसका साम्राज्य सलेम और कोयम्बटूर पर भी छाया हुआ था। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने इस समय तक गङ्गोपाल को मार कर काञ्ची छीन लिया था और काकतीय गणपति को पराजित कर नेल्लोर में वीराभिषेक सम्पन्न किया था। इस प्रसंग में जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी तेलुगु चोड नृप गङ्गोपाल था जिसकी सहायता काकतीय और बाण नृप कर रहे थे। १२६० ई० के लगभग गङ्गोपाल मारा गया और उसका सहयोगी गणपति काकतीय पराजित हुआ। गङ्गोपाल के मारे जाने के बाद बाण भी पाण्ड्यों द्वारा वशीकृत किये गये (द्रष्टव्य पृ० १३५-१३६)। इस प्रकार पाण्ड्य साम्राज्य अपने विकास की चरम सीमा तक पहुंच गया और मैसूर का क्षेत्र छोड़ कर शेष समस्त दक्षिण भारत लंका से नेल्लोर और कुडपह जिलों तक पाण्ड्य साम्राज्य का अङ्ग बन गया। उसने अपने विजयों के अनुरूप अनेक उपाधियाँ भी धारण कीं जिनमें 'इम्मण्डल-मुन्कोण्डरुलिय' 'हेमच्छादनराज' 'महाराजाधिराज श्रीपरमेश्वर' 'मर्कत पृथ्वीकृत' 'काञ्चीपुरंकोण्डन्' 'इल्लाण्डलैयानज' आदि विशेष प्रसिद्ध थे। ये सभी उपाधियाँ उसकी सार्वभौम सत्ता को ध्वनित करती थीं। इन विजयों से उसकी शक्ति और समृद्धि अतुलनीय थी। शत्रुओं से प्राप्त प्रभूत धन का उपयोग उसने देवालयों के निर्माण आदि कार्यों पर किया। कहते हैं कि उसने अष्टादश लक्ष मुद्रायें श्रीरङ्गम् के मंदिर पर चढ़ाईं और उसके सभामण्डप को हेममण्डित किया। चिदम्बरम् के मंदिर का मण्डप भी उसने हेममण्डित किया। उसके अभिलेखों में उसके वैभव और भव्यता का विवरण है।

यह कहना कठिन है कि उसके राजत्व का अन्त कब हुआ। उसका अन्तिम

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख उसके उन्नीसवें शासन वर्ष अर्थात् लगभग १२६९–७० ई० में प्रकाशित हुआ था। अनुमानतः उसका शासन १२६९–७० ई० के कुछ समय बाद भी चलता रहा। किन्तु उसके उत्तराधिकारियों का क्रम निर्धारित करना भी विवादास्पद है। सम्भवतः जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के शासन काल ही में उसका उत्तराधिकारी मारवर्मन् कुलशेखर पाण्ड्य युवराज के रूप में पाण्ड्य प्रभुसत्ता का अधिकारी था और अपने नाम से 'शासन' प्रचारित करने में समर्थ था। इस प्रकार उसके लेख १२६८ ई० से ही उपलब्ध होने लगते हैं। उसके शासन में उसके अनेक सहयोगी थे, जिनकी सांवैधानिक सत्ता सम्भवतः सुनिश्चित थी। ये सम्भवतः उपराजा थे और सम्मिलित रूप से पाण्ड्य प्रभुसत्ता का उपभोग करते थे। इनमें सबसे प्रमुख जटावर्मन् वीर पाण्ड्य था। इसके कई अभिलेख जटावर्मन् सुन्दर पाण्डय के राजत्व काल ही में मिलते हैं। १२५३ ई० के लगभग भी इसका पाण्डय प्रभुसत्ता पर अधिकार प्रतीत होता है। १२५३ ई० से लेकर १२७४–७५ ई० तक इसकी इसी प्रकार की सांवैधानिक सत्ता (सम्भवतः उपराजा के रूप में) बनी रही और उसके प्रभाव में तिन्नेवेली, मदुरा, रामनाड पुदुकोट्टह, काञ्ची और कोयम्बटूर के क्षेत्र बने रहे। वस्तुतः उसके अभिलेखों में इसके जो विजय वर्णित हैं वे जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य और मारवर्मन् कुलशेखर के शासन काल के विजय हैं जो इसने सुन्दर पाण्ड्य और कुलशेखर के लिये किये थे। सुन्दर पाण्ड्य के लंका-प्रभुत्व में इसका बहुत बड़ा हाथ था। इसी प्रकार कोङ्गु जनपद और कोप्पेरु-ञ्जिङ्गदेव को भी पराजित करने में इसने बड़ा पराक्रम दिखाया था। मारवर्मन् कुलशेखर का शासन काल १२६८ ई० से १३१० ई० तक निर्धारित होता है। इस लम्बे शासन काल में जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम के अतिरिक्त उसके अन्य सहयोगी उपराजा भी थे। अन्य सहयोगियों में जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय मारवर्मन् विक्रम पाण्ड्य, जटावर्मन् वीर पाण्ड्य द्वितीय, और जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य तृतीय थे। इन उपराजाओं ने पाण्ड्य संप्रभुता का उपभोग क्रमशः १२७६ ई०, १२८३ ई०, १२९६ ई० और १३०३ ई० से प्रारम्भ किया। इन उपराजाओं को प्रशासन के लिये इतना अधिकार प्राप्त था कि मार्कोपोलो और वस्सफ जैसे विदेशी विवरणकारों ने इन्हें पृथक् राजाओं के रूप में समझा है। इनका विवरण प्रस्तुत करने के पूर्व हम मूल राजवंश के पाण्ड्य नृप मारवर्मन् कुलशेखर का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

मारवर्मन् कुलशेखर के अभिलेखों में उसे 'सब देशों का विजेता' कहा है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका शासन काल दीर्घकालीन था और उसके अभिलेख भी उसके तीसरे राजत्व वर्ष से चौवालीसवें राजत्व वर्ष के बीच में मिलते हैं। किन्तु इन अभिलेखों में कुलशेखर के राजनीतिक जीवन और उपलब्धियों का गतानुगतिक विवरण है। स्पष्ट रूप में केवल इतना ही लिखा मिलता है कि 'उसने चोलव्याघ्र को वन में शासन करने के लिये भेज दिया। उसके साम्राज्य में सभी धर्म सहिष्णुतापूर्वक रहते थे तथा विविध देशों के नृप उसको भेंट चढ़ाते थे'। उस प्रशस्ति से राजनीतिक महत्व की केवल यह बात ज्ञात होती है कि मारवर्मन् कुलशेखर के शासन काल में चोलों का परम्परागत राज्य सर्वथा नष्ट हो गया था। शेरमादेवी अभिलेख से अवगत होता है कि उसने मलैनाडु, शोणाडु, उत्तरी और दक्षिणी कोङ्गु ईलम और तोण्डैमण्डलम् का विजय किया। ये सभी राज्य जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के द्वारा भी विजित थे। सम्भवतः कुलशेखर के समय में इन जनपदों में पाण्ड्य प्रभुसत्ता के विरुद्ध कोई विद्रोह पैदा हुआ हो जिसका दमन कुलशेखर द्वारा हुआ हो। मलैनाडु और शोणाडु जनपदों से उसके अनेक अभिलेख भी उपलब्ध हुये हैं। कोङ्गु जनपद से कुलशेखर का कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु अन्य अभिलेखों से पता चलता है कि तिन्नेवेल्लि मंदिर के लिये उसने 'प्राकार' बनवाया था। इसके लिये जो व्यय था उसके लिये धन केरल, चोल और होयसलों को पराजित करके प्राप्त किया गया था। एक अन्य अभिलेख से पता चलता है कि शासन के पन्द्रहवें वर्ष में उसने कन्ननूर में अपना शिविर स्थापित किया था। इन साक्ष्यों से इसका पूरा प्रमाण मिलता है कि उसके आधिपत्य में कोङ्गु जनपद वर्तमान रहा। इसके अतिरिक्त उसके सहराजा या उपराजा जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के भी कतिपय लेख कोङ्गु जनपद से मिले हैं।

उसके लंका-अभियान का विवरण 'महावंश' में उपलब्ध है। लंका के राजा पराक्रमबाहु तृतीय के शासन काल में १२८४ ई० के लगभग पाण्ड्य सैनिकों ने लंका को आक्रान्त किया। 'महावंश' के अनुसार इन दिनों लंका में महामारी और अकाल फैला हुआ था। पाण्ड्य सैनिकों ने अरिय चक्कवत्ति के नेतृत्व में शुभगिरि नामक नगर को ध्वस्त कर दिया और वहां से पवित्र 'दंतधातु' उठा ले गये। किन्तु पराक्रमबाहु तृतीय ने कालान्तर में अनुनय-विनय करके कुलशेखर से पुनः 'दंतधातु' वापस पा लिया।

मुस्लिम इतिहासकार वस्सफ ने लिखा है कि कुलशेखर के शासन काल

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में न तो उसका साम्राज्य ही किसी बाह्य आक्रमण से आक्रान्त हुआ और न वह स्वयं ही कभी रोगग्रस्त हुआ। फलतः उसका व्यक्तिगत जीवन वैभव और विलासपूर्ण था तथा उसका राजनीतिक जीवन गरिमामय। किन्तु कतिपय अभिलेखीय विवरण के आधार पर यह जाना जाता है कि शासन के अन्तिम दिनों में वह कुछ अल्प अवधि के लिये अस्वस्थ हुआ था जिसका परिणाम उसके प्रशासन पर भी पड़ा। तञ्जोर जिले से उपलब्ध एक अभिलेख से, जो उसके राजत्व के चौंतीसवें वर्ष प्रकाशित किया गया था, यह संकेत मिलता है कि इस बीच उसके साम्राज्य में कुछ आन्तरिक अशान्ति थी। इसके परिणाम से उसे अपने राज्य का कुछ अंश अपने अन्य भ्राताओं में विभक्त करना पड़ा था। किन्तु कालान्तर में उसने पुनः विभक्त प्रान्तों को भाइयों से वापस ले लिया और इस प्रकार देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना की।

मारवर्मन् कुलशेखर के शासन-काल का वृत्तान्त तब तक अपूर्ण है जब तक कि उसके समकालीन पाण्ड्य सह-शासकों की चर्चा न कर ली जाय। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य १२७६ ई० में पाण्ड्य साम्राज्य का सहभोक्ता बना था। मार्कोपोलो ने इसका विवरण सोन्दर बन्दी देवर और वस्सफ ने सुन्दर पण्डी के नाम से किया है। इसके कुछ अभिलेख कुडपह, सलेम, तञ्जोर, दक्षिणी अर्काट और चिङ्गलेपुट जिलों में मिले हैं। इसके अतिरिक्त कुलशेखर का अन्य सहराजा मारवर्मन् विक्रम पाण्ड्य था और इसने १२८३ ई० के लगभग कुलशेखर के राजत्व में शासन प्रारम्भ किया। चिदम्बरम् अभिलेख के अनुसार इसने वेणाद् (ट्रावङ्कोर) जीता था और चोलों को शेव्वारु नदी के किनारे पराजित किया था। किन्तु इस अभिलेखीय प्रशस्ति की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। इसने १२९५–९६ ई० तक शासन किया। कुलशेखर का तीसरा पाण्ड्य सहशासक जटावर्मन् वीर पाण्ड्य था जिसने १२९६–९७ में राजत्व प्राप्त किया। यह कुलशेखर का पुत्र था। कुलशेखर का एक अन्य पुत्र जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के सहराजत्व काल में १३०३ ई० के लगभग प्रतीत होता है। इन दोनों पुत्रों की राजनीतिक गतिविधि के विषय में मुस्लिम इतिहासकार वस्सफ ने लिखा है कि कुलशेखर के दो पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम सुन्दर पण्डी (जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य) था और यह औरस पुत्र था। इसका भाई तिरापण्डी (जटावर्मन् वीर पाण्ड्य) रखेली का पुत्र था। कुलशेखर तिरापण्डी अर्थात् जटावर्मन् वीर पाण्ड्य की माता से ज्यादा अनुरक्त था और इसी रखेली के प्रभाव में आकर कुलशेखर ने जटावर्मन् वीर पाण्ड्य को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य से शासन कार्य में अधिक वरीयता दी। सुन्दर पाण्ड्य पर कुलशेखर के व्यवहार की गहरी प्रतिक्रिया हुई और अन्त में जब कुलशेखर ने वीर पाण्ड्य को अपना युवराज नियुक्त किया तो सुन्दर पाण्ड्य ने क्रुद्ध होकर कुलशेखर की हत्या कर दी। वस्सफ के अनुसार कुलशेखर की हत्या ७०९ हिजरी अर्थात् १३१० ई० में हुई। इसके बाद सुन्दर पाण्ड्य ने मदुरा में अपने राजत्व की स्थापना की। किन्तु पितृहन्ता सुन्दर पाण्ड्य के विरुद्ध उसकी प्रजा ही हो गयी और कुलशेखर के प्रति भावनिष्ठ सामन्तों ने सुन्दर पाण्ड्य के विरुद्ध वीर पाण्ड्य का समर्थन किया। वीर पाण्ड्य को सुन्दर पाण्ड्य के विरुद्ध पहले संघर्ष में सफलता न मिली। तलची के युद्ध में वह स्वयं भी घायल हो गया। किन्तु १३१० ई० के लगभग वीर पाण्ड्य ने पुनः सुन्दर पाण्ड्य को आक्रान्त किया और अन्त में उसे अपदस्थ करके मदुरा से भगा दिया।

वस्सफ का विवरण सर्वथा प्रामाणिक नहीं है। सुन्दर पाण्ड्य द्वारा ७०९ हिजरी (= १३१० ई०) में कुलशेखर की हत्या प्रमाणित नहीं है। मलिक काफूर ने अपने विवरण में कुलशेखर के हत्या की चर्चा नहीं की है। बर्नी का विवरण भी वस्सफ के विवरण के विपरीत है। अभिलेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कुलशेखर १३११ ई० तक जीवित रहा और पूर्ण वैभव तथा प्रभाव के साथ राजत्व का उपभोग करता रहा। यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य के सहराजत्व प्राप्ति की तिथि में तेरह वर्षों का अन्तर है। ऐसी स्थिति में वीर पाण्ड्य का राजत्व और कुलशेखर की हत्या समकालीन घटना नहीं प्रतीत होती। किन्तु इसमें सभी साक्ष्य सहमत हैं कि कुलशेखर के शासन के अन्तिम दिनों में वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य की प्रतिद्वन्द्विता बड़ी उग्र हो उठी थी। चाहे कुलशेखर की हत्या न भी की गयी हो, किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि कुलशेखर के मरते-मरते वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य—पाण्ड्य राजपीठ के लिये खुले मैदान में आ चुके थे।

सुन्दर पाण्ड्य पराजित होकर अलाउद्दीन खिल्जी से जा मिला। यूल के विवरण के अनुसार सुन्दर बन्डी (सुन्दर पाण्ड्य) के अनुरोध पर सुल्तान अलाउद्दीन ने 'हजार दीनारी' (मलिक काफूर) को वीर पाण्ड्य के विरुद्ध ७१० हि० अर्थात् १३१० ई० में भेजा। किन्तु मलिक काफूर का दक्षिण अभियान सुन्दर पाण्ड्य की प्रेरणा का परिणाम ही न था। वस्तुतः अलाउद्दीन की दक्षिण विजय नीति उसकी अपनी थी जो सुन्दर पाण्ड्य और वीर पाण्ड्य के संघर्ष के कुछ पूर्व ही कार्यान्वित हो गयी थी। किन्तु इसमें सन्देह नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कि सुन्दर पाण्ड्य के मलिक काफूर से मिलने के कारण मुस्लिम आक्रमण को बड़ा बल मिला। किन्तु आक्रमण के परिणाम से सुन्दर पाण्ड्य को कुछ न मिला। मलिक काफूर मदुरा तथा आसपास के नगर और मन्दिरों की लूटपाट करने ही में व्यस्त रहा। जब लूटपाट से उसकी राक्षसी पिपासा तृप्त हुई तो वह १३११ ई० में दिल्ली लौट गया।

यद्यपि अलाउद्दीन अथवा मलिक काफूर की ओर से मदुरा को दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत करने की कोई चेष्टा नहीं हुई किन्तु इस अभियान से पाण्ड्य साम्राज्य की जड़ें खोखली हो गयीं। पाण्ड्य साम्राज्य इतना जर्जरित हो गया कि उसके सामन्त स्वतन्त्र होने के लिये शिर उठाने लगे। केरल के नृप रविवर्मन् कुलशेखर ने पाण्ड्य साम्राज्य को आक्रान्त किया और काञ्ची में वीर पाण्ड्य को पराजित कर वेगवती नदी के तट पर अपना अभिषेक किया। पराजित होकर वीर पाण्ड्य कोंकण की वनस्थली की ओर भाग गया। सुन्दर पाण्ड्य भी रविवर्मन् कुलशेखर द्वारा पराजित हुआ। सुन्दर पाण्ड्य के कुछ लेख उसके ग्यारहवें और तेरहवें राजत्व वर्ष के मिले हैं जो उसके १३१३–१३१५ ई० तक के शासन के प्रमाण हैं। किन्तु यह मदुरा से दूर दक्षिणी अर्काट और तिन्नेवेलि जिलों में प्रबल था और मदुरा पर इसका कोई प्रभाव नहीं रह गया था। १३१७ ई० में काकतीय वंशीय नृप प्रतापरुद्र ने अपने सेनापति मुप्पिडि नायक को भेज कर रविवर्मन् कुलशेखर से काञ्ची छीन ली और इस प्रसंग में 'पञ्च पाण्ड्यों' को भी पराजित किया। 'पञ्च पाण्ड्यों' के संदर्भ में यह कहना कठिन है कि ये पाँच पाण्ड्य नृप कौन थे। मार्कोपोलो ने भी लिखा है कि मावर (मदुरा साम्राज्य) पाँच सगे भाइयों के सहशासन में था। 'वेलुगोतिवारिवंशावली' के अनुसार ये 'पञ्च पाण्ड्य' जो काञ्ची में प्रतापरुद्र के सेनानायक मुप्पिडि द्वारा पराजित हुये थे—वीर पाण्ड्य, विक्रम पाण्ड्य, पराक्रम पाण्ड्य, सुन्दर पाण्ड्य और कुलशेखर थे। किन्तु पाण्ड्य अभिलेखों से ही स्पष्ट है कि वीर पाण्ड्य अथवा सुन्दर पाण्ड्य का कोई प्रभाव काञ्ची पर नहीं था—वे तिन्नेवेलि के आसपास अवश्य ही कुछ सक्रिय थे। इसके विपरीत पराक्रम पाण्ड्य १३१५ ई० के आसपास अर्थात् काञ्ची युद्ध के पूर्व से ही तिरुनेवेलि, मदुरा, रामनाथपुरम्, तञ्जोर और पदुकोट्टह जिलों में वीर पाण्ड्य के मदुरा से राजभ्रष्ट होने पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न हो उठा था।

वस्तुतः मदुरा और काञ्ची के हाथ से निकल जाने के बाद वीर पाण्ड्य

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation Chandigarh

रामनाड और तञ्जोर क्षेत्र में सक्रिय था। उसका अन्तिम अभिलेख १३४० ई० का उपलब्ध है। इसका प्रतिद्वन्द्वी सुन्दर पाण्ड्य १३१९ ई० के बाद जीवित नहीं रहा। किन्तु सुन्दर पाण्ड्य के एक छोटे भाई मारवर्मन् कुलशेखर के कुछ लेख मिले हैं जो यह सूचित करते हैं कि १३१४ से १३४६ ई० तक उसका राजनीतिक प्रभाव महत्त्वपूर्ण था और उसका राजत्व (अथवा सहराजत्व) तिन्नेवेल्लि से तञ्जोर तक के क्षेत्र को आच्छादित किये हुये था। सहराजा के रूप में एक अन्य मारवर्मन् वीर पाण्ड्य का उल्लेख अभिलेखों में है जो १३३४ ई० के आसपास शासन कर रहा था। कम से कम सैंतालीस वर्षों तक इसने राजत्व का उपभोग किया और १३८० ई० तक जीवित रहा। कम से कम पाँच पराक्रम पाण्ड्य नामक राजाओं की सूचना अभिलेखों से मिलती है। जटावर्मन् पराक्रम पाण्ड्य १३१५ से १३४७ ई० तक प्रख्यात था। इसके अभिलेख तिन्नेवेलि, मदुरा, रामनाड, तञ्जोर और पदुकोटह से उपलब्ध हुये हैं। १३३५-१३५२ ई० के बीच मारवर्मन् पराक्रम पाण्ड्य, रामनाड, तञ्जोर, दक्षिणी अर्काट और चिङ्गलेपुट क्षेत्र में सक्रिय और प्रभावशाली था। १३५७ ई० में जटावर्मन् पराक्रम पाण्ड्य की राजनीतिक अवस्थिति का पता चलता है। रामनाड और पदुकोटह क्षेत्र में यह तेइस वर्षों तक शासन करता रहा। १३८७ ई० में एक अन्य पराक्रम की सूचना मिलती है जो इस समय अपने बीसवें राजत्व वर्ष का उपभोग कर रहा था। इसने तेनकाशी (तिन्नेवेल्लि के पास) के एक मन्दिर के गर्भगृह और मण्डपम् का जीर्णोद्धार करवाया था। चौदहवीं शती के अन्तिम पाण्ड्य नृप के रूप में जटावर्मन् कुलशेखर का नाम भी ज्ञात होता है जिसने १३८४ ई० और १३९६ ई० के बीच शासन किया।

इन राजाओं के विषय में नाम और शासन तिथि के अतिरिक्त अन्य कोई जानकारी नहीं है। इनके परस्पर सम्बन्धों के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः मलिक काफूर के आक्रमण से ही पाण्ड्यों का द्वितीय साम्राज्य विघटित हो गया। मदुरा पर अवश्य ही १३१७ ई० के बाद पराक्रम पाण्ड्य का प्रभाव बढ़ा किन्तु अन्य पाण्ड्य यद्यपि सभी 'मधुरा महेन्द्र' की उपाधि धारण करते थे और अपने को 'समस्त भुवनैएकवीर' की विरुद से विभूषित करते थे किन्तु सभी विपन्नावस्था में थे और तिन्नेवेल्लि, रामनाड और पदुकोटह जनपदों में किसी प्रकार कालयापन कर रहे थे। मदुरा का पराक्रम पाण्ड्य भी बहुत दिनों तक मदुरा में स्थिर न रह सका। १३१८ ई० में कुतबुद्दीन मुबारक खिल्जी ने खुसरो खाँ को मावर (मदुरा) विजय के लिये भेजा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुस्लिम सेना का सामना करने में असमर्थ पाकर पराक्रम पाण्ड्य मदुरा छोड़कर भाग गया और फिर जब खुसरो दिल्ली लौट गया तो उसने पुनः मदुरा को अधिकृत कर लिया। इससे विपदा टली तो किन्तु कुछ ही दिनों के लिये। वारङ्गल पतन के बाद गयासुद्दीन तुगलक के सेनानी उलुघ खाँ (जो बाद को मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से दिल्ली का सुल्तान बना।) ने १३२३ ई० में पुनः मदुरा को आक्रान्त किया। इस बार मुसलमानों का अभियान सफल रहा। पराक्रम पाण्ड्य बन्दी बनाकर दिल्ली ले जाया गया और मावर अथवा मदुरा दिल्ली सल्तनत का अंग बना लिया गया। इस प्रकार पाण्ड्य राजवंश यद्यपि चौदहवीं ही नहीं अपितु सत्रहवीं शती तक किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व संभाले रहा, पाण्ड्यों के द्वितीय साम्राज्य का वास्तविक अन्त १३२३ ई० ही में हो गया। तिन्नेवेल्लि जनपद में पाण्ड्य राजवंश की जो परम्परा प्रचलित रही उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्राप्त ताम्रपत्रों के आधार पर निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—

अरिकेशरी पराक्रम मानाभरण (१४२२–६२ ई०) | कुलशेखर (१४२९–७३ ई०) | अरिकेश्वर (१४३६–७० ई०) | कन्या

कुलशेखर → पराक्रम कुलशेखर (१४७९–९९ ई०)

जटापराक्रम उपनाम वीर पाण्ड्य (१४७३–१५०६ ई०) | जटापराक्रम उपनाम श्री वल्लभ

जटापराक्रम उपनाम वीर पाण्ड्य → अभिराम पराक्रम

अभिराम पराक्रम → कुलशेखर पराक्रम (१५४३–१५५२ ई०) | शालिवाटिपति

जटापराक्रम उपनाम श्री वल्लभ → आहवराम → जटा श्री वल्लभ (१५३४–१५४२ ?)

शालिवाटिपति → तिरुनेलवेलिपेरुमल कुलशेखर (१५५१–१५६४ ई०)

कुलशेखर पराक्रम → गुणराम | वरतुङ्गराम (१५८८–१६०९ ई०)

तिरुनेलवेलिपेरुमल कुलशेखर → अतिवीरराम श्री वल्लभ (१५६२–१६०५ ई०) | श्री वल्लभ

अतिवीरराम श्री वल्लभ → अभिराम अतिवीरराम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय ११

होयसल राजवंश

होयसल, जिनके अनेक प्रसंग पूर्व अध्यायों में आये हैं, दक्षिण भारत के इतिहास के महत्त्वपूर्ण सूत्रधार थे। इनके उदय की कथा रोचक होते हुये भी अनैतिहासिक तथ्यों से आपूरित है। मैसूर के प्राचीन गंगवाड़ि क्षेत्र के पश्चिमोत्तर की दुर्गम वनस्थली में होयसलों का आदि स्थान था जहाँ से क्रमशः वे नीचे उतर कर आसपास के मैदानों में फैलने लगे थे। ईसवी प्रथम शती तक इनके अधीनस्थ क्षेत्र के रूप में आधुनिक हसन जिला, मैसूर का कुछ हिस्सा, कदूर और तुमकूर के जिले थे। यह इलाका अपनी भौगोलिक अवस्थिति के कारण दक्षिण भारत की राजनीतिक हलचल से मुक्त था अतएव होयसलों के प्रारम्भिक व्यक्तित्व का निर्माण स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप निर्बाध रूप से हुआ। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। एक बहुप्रचलित किंवदन्ती के अनुसार मैसूर जिले के कदूर जिले के एक ग्राम में वासन्तिका मन्दिर की अवस्थिति थी। इस मन्दिर में एक जैन मुनि की रक्षा साल या शाल नामक एक वीर ने एक नरभक्षी व्याघ्र को मार कर की थी। जैनमुनि ने प्रसन्न होकर इस साल नामक सामन्त को राजत्वप्राप्ति का आशीष दिया था। फलतः कालान्तर में इसी साल ने एक नये राजवंश की नींव डाली जो होयसल की संज्ञा से अभिहित हुआ। इस दन्तकथा को एक प्राचीन होयसल अभिलेख में भी लिपिबद्ध किया गया है।

बेलूर के आसपास मारले ग्राम से प्राप्त अभिलेख के अनुसार अरकेल्ल नामक किसी सामन्त के पौत्र का नाम पोयसल मारुग था। यही अनुश्रुतियों का शाल या होयसल भी था। यह राष्ट्रकूट नृप कृष्ण तृतीय का समकालीन था और दसवीं शती के मध्य में समसामयिक राजनीति में महत्त्व रखता था। राष्ट्रकूटों की ओर से सिरिकूट के युद्ध में नोलम्बों से लड़ चुका था। दसवीं शती के उत्तरार्द्ध में जब कि चोल साम्राज्य का राजराज के राजत्व में चूडान्त विकास हो रहा था, होयसल का जनपद निरापद रूप से अपनी अभिवृद्धि कर रहा था। किन्तु १००६ ई० में तलकाड के पास कावेरी के दक्षिण में कलवूर नामक स्थान में होयसल की एक झड़प चोल सामन्त अप्रमेय से

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुई। होयसल पराजित हुआ किन्तु अप्रमेय को भी बड़ी क्षति उठानी पड़ी। इस युद्ध के कुछ ही काल बाद वह स्वयं भी मर गया। होयसल का फिर भी प्रमाद कम न हुआ और वह गंगवाड़ि का अधिक से अधिक हिस्सा हड़पने लगा। इसका संघर्ष कोङ्गाल्व से भी हुआ जो कदम्बों को पराभूत करके होयसल जनपद को हस्तगत करने के लिये अपनी दृष्टि गड़ाये हुये था। १०२६ ई० तक होयसल चालुक्यों के अधिकतम प्रभाव में आ गया। किन्तु इससे उनके प्रादेशिक प्रभाव पर कोई असर नहीं हुआ। होयसल पूर्ववत् अभिवृद्धि की ओर अग्रसर होता रहा। १०२७ ई० में होयसल ने कदम्बों की राजधानी बनवास को आक्रान्त किया और राजेन्द्रपुर को भी विजित किया।

होयसल की पहचान कठिन है। इसकी तुलना प्रायः नृपकाम से की जाती है जो अभिलेखीय प्रमाण के अनुसार होयसल वंश का प्रथम राजा था। नृपकाम के राजत्व का समय-निर्धारण विवाद का विषय है। यदि यह १००६ ई० के होयसल से तुलनीय है तो इसकी शासनावधि १००६ ई० से १०४७ ई० तक प्रमाणित होती है। किन्तु सामान्यतया जैसा कि नीलकंठ शास्त्री का अभिमत है, नृपकाम का शासनकाल १०२२–४७ ई० माना जाता है। १०४७ ई० में इसका उत्तराधिकार इसके पुत्र विनयादित्य को मिला। इसकी नीति चोल-चालुक्य संघर्ष में भाग लेने की थी। चोलों से इसकी आनुवंशिक शत्रुता थी अतएव वह चालुक्यों के प्रति अधिक निष्ठावान् हुआ और उनकी सेना का प्रमुख स्तम्भ बन गया। १०४७ ई० में होयसल नृप विनयादित्य 'त्रिभुवन मल्ल' उपाधि से विभूषित हुआ। शाल अथवा नृपकाम की परम्परा को इसने न केवल जीवित रखा बल्कि अपने पराक्रम से होयसलों की पहाड़ी प्रजाति को राजवंश के रूप में परिणत किया। इसने अपने राजत्व अवधि में अत्यन्त सुदृढ़ सेना का संगठन किया और होयसल जनपद की पहाड़ी जातियों को संगठित करके वहां गंगवाड़ि के अपने आधिपत्य में शान्ति और सुव्यवस्था की परम्परा चलायी। एक होयसल अभिलेख में विनयादित्य के राज्य की जो सीमा निर्धारित की गयी है उसके अनुसार उसके राज्य की सीमा कोंकण, आलवखेड़ा, बैयलनाड, तलकाड और साविमलै जनपदों द्वारा निर्धारित होती थी। यह वस्तुतः गंगवाड़ि की वास्तविक सीमा थी जिसके लिये इन्हीं दिनों चोल और चालुक्यों में गम्भीर संघर्ष चल रहा था। होयसलों के आधिपत्य में गंगवाड़ि को रहने देने में चालुक्य भी सचेष्ट थे,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्योंकि विनयादित्य की वास्तविक राजनीतिक स्थिति चालुक्य नृप विक्रमादित्य की दृष्टि में एक सामन्त राजा की ही थी। विनयादित्य का उत्कर्ष कोंकण और सान्तर राजवंशों के लिये भयावह था। विनयादित्य का सान्तरों से गहरा संघर्ष हुआ। १०६० ई० और १०९० ई० के बीच होसयलों ने सान्तर जनपद पर कुछ समय के लिये अपने आधिपत्य की स्थापना कर ली। चालुक्यों से विनयादित्य का वैवाहिक सम्बन्ध था। १०५५ के पूर्व ही चालुक्य नृप से विनयादित्य की बहन अथवा लड़की विवाहित थी जो चालुक्य रानियों में बड़ी प्रधान थी। विनयादित्य के पुत्र इरैयङ्ग ने चालुक्यों की राजनीतिक समृद्धि में असाधारण विकास किया था और अपनी सेवाओं के कारण वह चालुक्य नरेश की दाहिनी भुजा का राजदण्ड समझा जाने लगा। उसके एक अभिलेख में विवरण है कि १०६९ ई० और १०७६ ई० के बीच कभी उसने चालुक्यों के जन्मजात शत्रु परमारों के नगरी धार को भस्म कर दिया था और चोलों को परास्त कर उनके सैनिक शिविर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। कालिङ्गों के साथ भी उसने युद्ध किया था और उन्हें पराभूत किया था। यह कहना कठिन है कि इस अभिलेखीय प्रशंस्ति में सत्यांश कितना है। सम्भवतः ये सारे युद्ध उसने चालुक्यों के लिये ही किये थे। होयसल इरैयङ्ग ने चक्रगोट्ट राजवंश को भी आक्रान्त किया था। चक्रगोट्ट की अवस्थिति बस्तर (मध्यप्रदेश) में थी। चक्रगोट्ट चक्रकूट से तुलनीय है।

१०९० ई० के बाद चालुक्य-होयसल राजनीतिक सम्बन्ध में तनिक अन्तर आया। होयसल नृप विनयादित्य और उसके पुत्र इरैयङ्ग की सामरिक सफलताओं के प्रति विक्रमादित्य षष्ठ सशंक रहने लगा। १०९३ ई० में जब परमार नृप जगद्देव ने विनयादित्य के विरुद्ध होयसल की नगरी द्वारसमुद्र को आक्रान्त किया तो विक्रमादित्य षष्ठ ने उसे इस आक्रमण के लिये उत्साहित किया और विनयादित्य की कोई सहायता न की। विनयादित्य के दो पुत्रों (बल्लाल और विष्णुवर्धन्) ने जगद्देव के आक्रमण का प्रतिकार किया और उन्हें वापस खदेड़ दिया।

विनयादित्य १०९७-९८ ई० के लगभग दिवङ्गत हुआ। इस समय इरैयङ्ग की अवस्था साठ वर्ष की थी। सम्भवतः उसने ११०२ ई० तक विनयादित्य के बाद राज्य किया। किन्तु सथियन्थैयर के अनुसार विनयादित्य की मृत्यु ११०२ ई० के बाद में हुई और विनयादित्य के बाद बल्लाल प्रथम को होयसल राजपीठ का अधिकार मिला। इरैयङ्ग का बल्लाल प्रथम ज्येष्ठ पुत्र था।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बल्लाल प्रथम के अन्य दो भाई थे—एक का नाम विष्णुवर्धन् और दूसरे का नाम उदयादित्य था। दोनों ही बल्लाल प्रथम के परम सहयोगी थे और बल्लाल प्रथम की राजनीतिक उपलब्धियों में उनका विशेषकर, विष्णुवर्धन् का महत्त्वपूर्ण योग था।

बल्लाल प्रथम का राजत्व भी संक्षिप्त था। उसने ११०१ अथवा १००२ से १००६ अथवा ई० १००९ तक शासन किया। इस संक्षिप्त शासन में भी उसकी उपलब्धियाँ महान् थीं। शासनसूत्र सँभालने पर उसने पहले आन्तरिक प्रशासन पर ध्यान दिया और परमार-आक्रमणजन्य क्षति की आपूर्ति की। आन्तरिक प्रशासन और सुव्यवस्था को उसने इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह चालुक्यों की उपेक्षा करके स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में होयसल जनपद का विकास कर सके। संयोग से उसे इसके लिये बड़ा अनुकूल वातावरण भी मिला। चालुक्य साम्राज्य अपनी आन्तरिक अव्यवस्थाओं का शिकार हो चुका था और स्थान-स्थान पर चालुक्यों के सामन्त अपनी-अपनी स्वतंत्रता घोषित करने लग गये थे। इस प्रकार ११०१ ई० ही में अनन्तपाल दण्डनायक के भतीजे गोविन्द ने तुङ्गभद्रा के उत्तर पश्चिम में अर्थात् वेलवोल, हुलिगिरि और बनवासी में अपने स्वतंत्र शासन की नींव डाल ली थी। कदम्बवंशीय जयकेशि द्वितीय ने भी अपने को कोंकण चक्रवर्त्ती के रूप में प्रचारित कर रखा था और वह गोवा तक के प्रदेश को अपने प्रभाव में कर चुका था। महामण्डलेश्वर तैलप, जो कदम्बवंशीय ही था हानुङ्गल में स्वतन्त्र राजा के रूप में ११०२ ई० तक व्यवहार करने लगा था। इन सब परिस्थितियों के कारण चालुक्य नृप विक्रमादित्य होयसलों की ओर ध्यान न दे सका और बल्लाल प्रथम शान्तिपूर्वक अपने राज्य की स्वतन्त्रता और स्थिरता के लिये प्रयत्न करता गया। १००२ ई० के बाद जब कि विक्रमादित्य अपने उत्तरी साम्राज्य को विछिन्न न होने देने के लिये प्रयत्नशील था, दक्षिण में होयसलों ने चालुक्यों से उच्छङ्गी को छीन लिया। उच्छङ्गी के शासक पाण्ड्य वंशीय थे जो चालुक्यों की छत्रछाया में प्राचीन जनपद नोलाम्बवाड़ि में कालयापन कर रहे थे। उन्हें अपने आधीन कर वे लौटते समय चालुक्यों के एक अन्य सामन्त राजवंश (इरमवरज का सिंद राजवंश) के नृप ऊचुगी द्वितीय द्वारा आक्रान्त हुये। किन्तु होयसल-सिंह संघर्ष के परिणाम का सही-सही पता नहीं। किन्तु इससे होयसल प्रतिद्वन्द्वियों का मनोबल ऊँचा हुआ। होयसल राजवंश की राजनीतिक और सामरिक प्रगति कुछ दिनों के लिये अवरुद्ध हो गयी। बल्लाल प्रथम द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

११०४ ई० के लगभग छङ्गालव पराजित हुये और उनकी स्वतंत्रता पाण्ड्यों द्वारा नष्ट हुई। छङ्गालव विजय से बल्लाल प्रथम की खोई प्रतिष्ठा पुनः लौट आयी।

विनयादित्य के समय से सोसावीर और द्वारसमुद्र होयसलों की राजनगरी के रूप में प्रतिष्ठित थे। बल्लाल प्रथम ने बेलूर को राजधानी के रूप में परिणत किया यद्यपि द्वारसमुद्र को भी उपराजनगरी के रूप में मान्यता प्रदान किये रहा। बल्लाल प्रथम निस्सन्तान था। अतएव उसके बाद उसका अनुज विष्णुवर्धन् ही होयसल राजपीठ का अधिकारी बना।

विष्णुवर्धन का उपनाम बिट्टिग था। यद्यपि बल्लाल प्रथम के समय में ही होयसल राजवंश स्वतन्त्र राजवंश के रूप में उदीयमान था किन्तु औपचारिकता के लिये (सम्भवतः नीतिवश) होयसल नृप बल्लाल प्रथम अपने अभिलेखों में चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करता रहा। विष्णुवर्धन् अथवा बिट्टिग ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया और अपने शासन काल में (११०८-११४२ ई०) समकालीन चालुक्य नृप के प्रति वह अपनी आधीनता व्यक्त करता रहा। उसने अपनी सुविचारित योजना के अनुसार मुख्यतया उन्हीं सामन्तों और राजाओं को आक्रान्त किया जो कि चालुक्यों के विरोधी थे अथवा चोलों के सामन्त थे।

विष्णुवर्धन् ने लगभग चौंतीस वर्ष तक शासन किया। किन्तु आरम्भिक ८ वर्षों में उसने एक भी युद्ध नहीं किया। इस अवधि में उसने सैन्य संगठन और प्रशासन की सुचारुता के लिये प्रयत्न किया। जब उसने अपना अभियान-क्रम आरम्भ किया तो लगभग शेष जीवन वह युद्धों में व्यस्त रहा। ११०८ से ११२८ ई० तक का उसका राजत्व बड़ा ही यशस्वी रहा। इस अवधि में उसके सभी युद्ध सफल रहे और उसने बड़ी शीघ्रता से होयसल राज्य का चतुर्दिक् विस्तार किया। किन्तु इसके राजत्व का द्वितीय और अन्तिम चरण (११२८-११४२ ई० तक) में इसका प्रगतिक्रम मंदगति से हुआ।

११११ ई० के एक लेख में उसके विजयों का इतिहास सुरक्षित है। अपनी अभियान-योजना के प्रथम चरण में उसने सर्वप्रथम नङ्गली को जीता और इस प्रकार तलकाड की सीमा पर आ धमका। किन्तु तलकाड जनपद को जीतने के पूर्व उसने आधुनिक कोलर के आसपास मुरुशुनाड जनपद को भी आक्रान्त किया। इन विजयों में उसे गंग और नोलम्ब वंशधरों से सहायता मिली थी। तदुपरान्त उसने कोङ्गु जनपद पर अधिकार किया। कोङ्गु जनपद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चोलों के आधिपत्य में था। नोलम्ब जनपद का उच्छङ्गी, जो होयसलों द्वारा पहले जीता जा चुका था, चालुक्यों की शह पाकर पुनः सिर उठाने लगा था। विष्णुवर्धन ने उच्छङ्गी को जीत कर 'उच्छङ्गी कोण्ड' और 'नोलम्ब कोण्ड' की उपाधि से अपने को विभूषित किया। उच्छङ्गी को अपना सैनिक आधार मानकर विष्णुवर्धन् ने तुङ्गभद्रा को पार किया और हानुङ्गल और कदम्ब जनपद पर टूट पड़ा। ये समस्त विजय सम्भवतः उसने १११९ से १११३ ई० तक कर डाले थे। आलवखेड़ा (दक्षिणी कनारा में) के आलुपवंशीय भी विष्णुवर्धन् द्वारा पराजित हुये। इस प्रकार जब उसकी स्थिति हर तरह से दृढ़ हो गयी तो उसने अपने दण्डनायक गङ्गराज को तलकाड़ की ओर भेजा। गङ्गराज ने तलकाड़ के चोल-सामन्त को तुङ्गभद्रा पार कर आक्रान्त किया और तलकाड़ के दुर्ग को छीन लिया। चोल सामन्त जो अडिगमान वंश का था, पराजित होकर तलकाड जनपद छोड़ काञ्ची की तरफ भागा। होयसल अभिलेख में गङ्गराज और होयसलों द्वारा काञ्ची और रामेश्वरम् तक के विजय की बात लिखी हुई है। किन्तु यह विष्णुवर्धन् के चारणों की अतिरञ्जना मात्र है। सम्भव है कि उच्छङ्गी के लिये पाण्ड्य और तलकाड के लिये पाण्ड्य और चोल सम्राटों ने कोई सेना भेजी हो, जो गङ्गराज द्वारा पराजित हो गयी हो, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं कि गङ्गराज की सेना काञ्ची और रामेश्वरम् तक अभियान करने में सफल रही। विष्णुवर्धन् ने तलकाड विजय के बाद 'वीरगङ्ग' और 'तलकाड़ गोण्ड' की उपाधि धारण की। चोल सामन्तों से उसने सेङ्गिरि और हेञ्जेरु भी जीत लिया।

इन विजयों का परिणाम यह हुआ कि होयसल राज्य की एक सुनिश्चित राज्यसीमा निर्धारित हो गयी जो कालान्तर में होयसल जनपद के रूप में सर्वविदित हुआ। इस जनपद के पूर्व में ननगिल्लि, दक्षिण में कोङ्गु, चेरन् और अन्नमलै, पश्चिम में बरकनूर और उत्तर में साविमलै की अवस्थिति थी। आधुनिक शब्दावली के अनुसार ननगिल्लि कोलर के आसपास, कोङ्गु जनपद सलेम और कोयम्बटुर जिले में था। चेरम् की पहचान चेर जनपद से की जा सकती है। अन्नमलै की अवस्थिति दक्षिणी पालघाट के पास और बरकनूर की स्थिति दक्षिणी कनारा में थी। साविमलै की पहचान कठिन है। सम्भवतः यह कृष्णा के तट पर कहीं स्थित था।

यद्यपि विष्णुवर्द्धन् के समस्त अभियान चोलों और उनके सामन्तों के विरुद्ध थे चालुक्य नृप विक्रमादित्य षष्ठ को भी उसके सामरिक गतिविधियों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रति सशंक होना पड़ा। वस्तुतः होयसल अपने मूलस्थान के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में बड़ी तेजी के साथ अपने भावी साम्राज्य की नींव डाल रहे थे। १११२ ई० में होयसलों के विरुद्ध विक्रमादित्य षष्ठ ने अपने कई महामण्डलेश्वरों को विष्णुवर्धन् के विरुद्ध प्रेरित किया। द्वादश महामण्डलेश्वरों और चालुक्य सामन्तों ने मिलकर होयसल जनपद को आक्रान्त किया। इन द्वादश सामन्तों में गोआ के कादम्ब और उन्हीं की शाखा के हानुङ्गल, उच्छङ्गी के पाण्ड्य, सौन्दन्ति के रट्ट, हेन्जेरु के चोलि और इरमबरज के सिन्द प्रमुख थे। इन सबों की मुठभेड़ विष्णुवर्धन् की सेना से होयसलनाड के ही आसपास कण्णेगाल में हुई। होयसल सैनिकों का नेतृत्व प्रसिद्ध वीर गङ्गराज ही कर रहा था, जिसने महामण्डलेश्वर सामन्तों की संयुक्त सेना को बुरी तरह परास्त किया। इससे होयसलों का उत्साह बहुत बढ़ गया। गङ्गराज ने कदम्बों को आक्रान्त किया और तैलप को पराजित कर तुङ्गभद्रा को पार किया। उच्छङ्गी के पाण्ड्य और हेन्जेरु के चोल सामन्त भी परास्त किये गये।

१११८ ई० और ११२० ई० के बीच विष्णुवर्धन् की गतिविधियों का अत्यन्त अल्प ज्ञान है। सम्भवतः वह अपने पूर्व विजित को ही स्थिर और व्यवस्थित करने में व्यस्त रहा। वस्तुतः तलकाड के आसपास होयसलों के विरुद्ध बड़ी प्रतिक्रिया थी। इस प्रतिक्रिया को उसकाने में चालुक्य और कदम्ब बड़ी सक्रियता प्रदर्शित कर रहे थे। १२२०-२१ इ० के बीच इरमबरज के परमाडिदेव सिन्द ने भी होयसलनाड पर धावा किया था। विष्णुवर्धन् ने इन समस्त परिस्थितियों पर सफलता पूर्वक अपना नियंत्रण स्थापित किया। यद्यपि विक्रम चोल ने उत्तर में कोलर के आसपास से होयसलों के प्रभाव को बहुत कुछ नष्ट कर दिया था किन्तु विष्णुवर्द्धन् बिना किसी वास्तविक क्षति के १२२८ ई० तक निरापद रहा। इस समय के लगभग उसके आधीन द्वारसमुद्र भी था, जो कि चोलों का महत्वपूर्ण पूर्व अधिष्ठान था। यहां उसने एक शिव मन्दिर में भेंट चढ़ाई और दरबार किया। किन्तु इसके बाद (१२२८—१२४२ ई०) उसकी प्रगति पर कुछ अङ्कुश स्थापित हुआ। १२२० ई० में विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु हो गयी। इसके बाद चालुक्य राजपीठ पर सोमेश्वर तृतीय आसीन हुआ। उसने तैलप कदम्ब से सांठ-गांठ की और होयसल तथा उनके सहयोगी सान्तर राजवंश को एक ही साथ आक्रान्त किया। युद्ध कुछ ही अवधि तक चल पाया कि तैलप की मृत्यु (११३० ई०) हो गयी। इससे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कदम्बों की स्थिति बड़ी बुरी हो गयी, जिसका पूरा-पूरा लाभ विष्णुवर्धन् ने उठाया। तैलप का उत्तराधिकारी मयूरशर्मन् स्थिति संभाल न सका और कृष्णा नदी के तट पर हुए युद्ध में विष्णुवर्धन् से पराजित हो गया। फिर भी कदम्ब और चालुक्यों का खतरा विष्णुवर्धन् को बना रहा। इस बीच उसे पारिवारिक विपत्ति का भी सामना करना पड़ा। लगभग ११३१ ई० में उसका सुयोग्य पुत्र बल्लाल मर गया। उसकी मृत्यु से विष्णुवर्धन् बड़ा विचलित हुआ। इस समय उसकी अवस्था भी लगभग पैंसठ की थी। उसने किसी तरह परिस्थिति संभाली और अपने नवजात शिशु को अपना उत्तराधिकारी बनाया तथा होयसल राजपीठ की सुरक्षा के लिये प्रयत्न किया। ११३५ ई० से लगातार उसे कदम्ब और होयसलों से युद्ध करते रहना पड़ा। इस युद्ध में एक बार तो उसे अपनी राजधानी बंकापुर से भी हाथ धो देना पड़ा और द्वारसमुद्र की सुरक्षा के लिये कठिन श्रम करना पड़ा। होयसलनाड की आन्तरिक स्थिति भी अशान्तिपूर्ण थी। उस विपन्न परिस्थिति में, जब कि उसके उत्तराधिकारी नरसिंहदेव की अवस्था केवल आठ वर्ष की थी, वह मार्च ११४२ ई० में मर गया।

नरसिंह का शासन काल (११४२–११७३ ई०) बड़ा संकटपूर्ण सिद्ध हुआ और सामयिक राजनीतिक परिस्थिति को देखते हुए वह बड़ा अयोग्य शासक सिद्ध हुआ। सिन्द, कदम्ब और चालुक्य प्रतिद्वन्द्वियों ने होयसलनाड की समृद्धि को नष्ट किया तथा बंकापुर और हानुङ्गल के क्षेत्र नरसिंह के हाथों से निकल गये। स्वयं होयसल राजपीठ भी प्रतिद्वन्द्विता का कारण बन गया और इसके लिये नरसिंह के विरुद्ध राजपरिवार का एक व्यक्ति (सम्भवतः उदयादित्य का पुत्र इरैयङ्ग) दावेदार उठ खड़ा हुआ। इसे चालुक्य विद्रोह के लिये बढ़ावा दे रहे थे। कदम्बों की गतिविधि से ऊब कर ११४३ ई० में नरसिंह ने कदम्बों को आक्रान्त किया। किन्तु परिणाम होयसलों के अनुकूल न हुआ क्योंकि चालुक्य नृप जगदेकमल्ल कदम्बों की भरपूर सहायता कर रहा था और पाण्ड्य नृप वीरपाण्ड्य भी चालुक्यों के नेतृत्व में होयसलों को क्षतिग्रस्त कर रहा था। कङ्गालव राजवंश जो विष्णुवर्धन् के द्वारा होयसलों का अधीन सामन्त राजवंश बना दिया गया था, विद्रोह के लिये उद्यत हुआ। आन्तरिक सुरक्षा की भी स्थिति भयावह थी। नरसिंह की असफलताओं की गहरी प्रतिक्रिया हुई एवं उसका पुत्र बल्लाल (द्वितीय) भी उसके प्रति विद्रोही हो उठा। इसने ११७३ ई० में बलात् होयसल राजपीठ अपने पिता

११८० ई०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से छीन लिया और तदुपरान्त अपने नेतृत्व में होयसल समृद्धि का पथ प्रशस्त किया।।

बल्लाल द्वितीय के पितामह विष्णुवर्धन् का समस्त जीवन युद्ध और संघर्ष में बीता था। अपने शासन काल में न केवल उसने होयसलनाड की राजनीतिक और सांस्कृतिक सीमा निर्धारित की अपितु चोल और पाण्ड्य जनपद को भी आक्रान्त कर अपने राजवंश की भावी गतिविधि का पूर्वाभास दिया। किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से विष्णुवर्धन् अपने समस्त प्रयत्नों के बावजूद होयसलनाड की सीमा न पार कर सका और जीवन के अन्तिम दिनों तक कदम्ब और चालुक्य तथा पाण्ड्य और चोल सामन्तों से अपने अस्तित्व के लिये जूझता रहा। तत्कालीन राजनीतिक पद्धति की विवेचना करने पर यही प्रतीत होता है कि उसका गौरव और महत्त्व यही था कि यद्यपि साम्राज्य-स्थापन के उसके सारे प्रयत्न अन्ततोगत्वा व्यर्थ गये किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने एक भावी साम्राज्य की नींव डाल दी थी, उसके भावी विकास की रूपरेखा निर्धारित कर दी थी और यद्यपि औपचारिकता के लिये वह मरते दम तक चालुक्यों के प्रति वफादारी का दम भरता रहा तथा अपने को सामन्त अथवा मण्डलेश्वर ही घोषित करता रहा किन्तु सर्वथा वह स्वतन्त्र था और उसके विजित होयसलनाड का राजनीतिक व्यक्तित्व स्पष्ट था। बल्लाल द्वितीय ने अपने राजत्व (११७३–१२२३ ई०) में चालुक्यों के प्रति प्रदर्शित पारम्परिक औपचारिकता का भी परित्याग कर दिया। उसे अपने पौरुष की सफलता का बड़ा विश्वास था। उसने उसी मनोवृत्ति के कारण शासन के आरम्भिक वर्षों ही में बड़ी-बड़ी उपाधियां धारण कर रखी थीं। उसने अपने को 'वीर बल्लाल' के नाम से प्रचारित किया।

शासन के प्रथम तीन वर्षों में उसने अपनी भावी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये आधार दृढ़ किया और चौथे वर्ष में कलचुरी जनपद की सीमा-चौकियों को आक्रान्त किया तथा सवि नामक पहाड़ी कबीलों पर विजय प्राप्त किया। ११७७ ई० में उसने उच्छङ्गी दुर्ग को जीत कर पाण्ड्य नृप कामदेव (उपनाम विजय पाण्ड्य) तथा उसके पिता अड़ेय को बन्दी बना लिया। बाद को उसे मुक्त कर दिया। किन्तु उच्छङ्गी का राजवंश इस पराजय के बाद अपनी परम्परागत राजनीतिक मान्यता को सदैव के लिये खो बैठा। उच्छङ्गी की सफलता वीर बल्लाल की प्रथम वास्तविक सफलता थी जिसका वर्णन उसके दरबारी चारणों का प्रिय प्रसंग बना।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस बीच चालुक्यों और कलचुरि राजवंशों में गहरी प्रतिद्वन्द्विता छिड़ी हुई थी। फलतः बनवासी, हानुङ्गल, हुलिगिरि आदि का प्रदेश अरक्षित पड़ा हुआ था। इस क्षेत्र में उदद्देर के तैलप और कदम्ब नृप विक्रमादित्य गुह की टकटकी लगी थी। किन्तु इसके पूर्व कि इनमें से किसी के हाथों बनवासी का प्रदेश जाता, वीर बल्लाल ने ११७८ ई० में बनवासी को आक्रान्त कर उस पर कुछ समय के लिये अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। अगले ही वर्ष कलचुरियों के आक्रमण से प्रताड़ित होकर उसे बनवासी पर अपना दावा छोड़ देना पड़ा। इन दिनों कलचुरि नृप सङ्कम बड़ा प्रबल था जिसने कदम्बों से सांठगांठ कर कुछ दिनों के लिये होयसलों को होयसलनाड ही में सीमित रहने के लिये वाध्य कर दिया था।

११७९ से ११८९ की अवधि में बल्लाल प्रथम अपनी राजनीतिक गतिविधियों को अपनी नीतिमत्ता से नियंत्रित किये रहा। चालुक्यों से धक्का खाने पर उसे यह सोचने को वाध्य होना पड़ा कि अभी उसकी साम्राज्यवादी योजनाओं के कार्यान्वयन का समुचित अवसर नहीं है। इन दिनों कलचुरियों की स्थिति उनके विजित दक्षिण में डाँवाडोल थी। चालुक्यों ने इनके विरुद्ध कदम्ब और सान्तर राजवंश को संगठित कर रखा था। कलचुरियों के विरुद्ध देवगिरि के यादव और वारङ्गल के काकतीय भी उद्धत थे। ऐसी विषम परिस्थिति में कलचुरि नृप सङ्कम बल्लाल के प्रति मित्रता के लिये उन्मुख हुआ। इस मित्रता का पूरा-पूरा राजनीतिक लाभ वीर बल्लाल ने उठाया। ११८४ ई० तक बल्लाल की राजनीतिक शक्ति द्विगुणित हो गयी थी क्योंकि कलचुरि राजवंश उत्तराधिकार युद्ध का शिकार होकर अन्त को प्राप्त हुआ। इस प्रकार वीर बल्लाल के प्रगति-मार्ग का प्रमुख राजनीतिक कण्टक दूर हो गया। उसका चालुक्य प्रतिद्वन्द्वी सोमेश्वर चतुर्थ निर्बल था और उसके अस्तित्व के लिये देवगिरि के यादव और वारङ्गल के काकतीय खतरा पैदा किये हुए थे। नीतिवश वीर बल्लाल सोमेश्वर चतुर्थ से मैत्री किये रहा। इन दिनों (११८९ ई०) देवगिरि का भिल्लम सेउण चालुक्यों के विरुद्ध सिर उठा रहा था। बड़ी तेजी से उसने चालुक्य साम्राज्य को क्षतिग्रस्त करते हुये कुन्तल के उत्तरी भाग को अपहृत कर लिया। पराजित होकर सोमेश्वर चतुर्थ (चालुक्य) अपने साम्राज्य के दक्षिण पश्चिमी भाग में भागा। सेउण भी आगे बढ़ता चला गया और तुङ्गभद्रा की घाटी में एक वर्ष के भीतर भीतर हलसिग और बेलवोल को भी अधिकृत कर लिया। वीर बल्लाल ने इसे अपनी सक्रियता का उचित अवसर समझा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसने यादवों की सेना को सोरतूर में घेर लिया और उन्हें तुङ्गभद्रा घाटी के बाहर खदेड़ दिया। बेलवा पर होयसलों ने अधिकार कर लिया और द्वारसमुद्र को पूर्व की अपेक्षा अधिक व्यापक नियंत्रण में ले आया। वहाँ उसकी रानी सा देवी वीर बल्लाल की ओर से शासन करने लगी। इसके बाद ११९० ई० के आसपास सेउण यादव और वीर बल्लाल में सन्धि हो गयी तथा द्वारसमुद्र पर यादवों ने होयसलों का अधिकार मान लिया। इसके बाद वीर बल्लाल ने होयसलनाड और कृष्णा के बीच की समस्त भूमि को अधिकृत किया। इसके लिये उसे मुख्यतया कदम्बों, सान्तरों तथा उनके सहयोगी सामन्तों से युद्ध करना पड़ा। ११९२ ई० में उसने स्वयं अपने नेतृत्व में बेलवोल जनपद को आक्रान्त किया और उसे भी अधिकृत किया। ११९२ ई० में लोक्किगुण्डि जनपद को भी होयसल साम्राज्य का अङ्ग बनाया। इरमवरज के सिन्द भी वीर बल्लाल द्वारा परास्त हुए।

इन उपलब्धियों ने वीर बल्लाल की राजनीतिक स्थिति दृढ़ कर दी। उसके समस्त प्रतिद्वन्द्वी परास्त हुए या नष्ट हो गये। स्वयं चालुक्य भी विघटित हो गये थे। सोमेश्वर चतुर्थ ११८९-९० ई० ही में कल्याणी से पलायित हो गया था, और फिर बड़ी कठिनाई से पुनः कल्याणी में अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सका था। ऐसी स्थिति में वीर बल्लाल ही वस्तुतः समसामयिक राजनीति का वास्तविक सूत्रधार था। उसने इस अवसर पर चालुक्यों के प्रति औपचारिक किन्तु पारस्परिक सामन्तत्व का प्रदर्शन बन्द कर दिया और स्वयं को सार्वभौम सत्तासम्पन्न होयसल साम्राज्य के विधाता रूप में प्रदर्शित किया। उसने ११९२ ई० में अपनी स्वतंत्रता घोषित की और 'समस्त भुवनाश्रय' का विरुद धारण किया। वास्तविक रूप में वह तुङ्गभद्रा के समस्त पश्चिमी क्षेत्र—जिसमें बनवासी हानुङ्गल, तुलव आदि जनपद भी शामिल थे—का भाग्य-विधाता बन बैठा था। उस समय उसके चारण उसकी विजय तालिका में जिन नामों को सहज जोड़ पाते थे, वे थे—बनवासी, हानुङ्गल, हलसिंग, हुलिंगिरि, नोलम्बवाडि, बेलवोल, बागडगे, इरमवरज, किशुकाड, बल्ल, कुदेरि, ऐयणवाडि, मासवाडि, कलवाडि, सिन्दरिज, उच्छङ्गी, लोक्किगुण्डि और तट्टवाडि। वीर बल्लाल की यह स्थिति ११९२ ई० से लेकर १२०० ई० तक बनी रही। अगले दो वर्षों तक उसने कोई युद्ध नहीं किया। १२०२ और १२०४ ई० के बीच कुछ समय के लिये तुङ्गभद्रा की उत्तरी घाटी में, और बनवासीनाड तथा बेलवोल क्षेत्र में कदम्ब नृप कामदेव और सेउण नृप जयतुगि प्रबलतापूर्वक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सक्रिय हो गये थे। किन्तु वीर बल्लाल ने पराक्रमपूर्वक इन शत्रुओं का सामना किया तथा इन क्षेत्रों को होयसल साम्राज्य के अन्तर्गत सुरक्षित रखा।

विष्णुवर्धन् ने होयसलनाड और उसके राज्य की संरचना बहुत कुछ तञ्जोर के चोल और उनके सामान्तों से उनका शासित छीन कर की थी। वस्तुतः उसने मैसूर से चोल आधिपत्य को उखाड़ फेंका था। फलतः दोनों राजघरानों के बीच बड़ी शत्रुता थी। किन्तु १२०७ ई० के लगभग समसामयिक राजनीति से प्रभावित होकर दोनों राजघराने सन्निकट आने के लिये आतुर थे। फलतः दोनों राजघरानों में वैवाहिक सम्बन्धों की परम्परा चल पड़ी। यद्यपि वैवाहिक सम्बन्धों के सम्बन्ध में अभी तक पूरे तथ्य सुज्ञात नहीं हैं किन्तु सम्भवतः वीर बल्लाल ने किसी चोल दुहिता से विवाह किया। उसने अपनी कन्या सोमला, जो नरसिंह की सगी बहिन थी, का विवाह भी वृद्ध चोल नृप कुलोत्तुंङ्ग से कर दिया। सोमला के कारण चोलों और होयसलों के बीच बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जिसका प्रभाव भावी राजनीति पर भी पड़ा। नरसिंह का पुत्र सोमेश्वर, जिसकी माँ उसका जन्म होते ही मर चुकी थी, सोमला द्वारा चोल रनिवास में पोषित हुआ। नरसिंह की एक पुत्री भी कुलोत्तुङ्ग तृतीय के पुत्र राजराज (तृतीय) से विवाहित हुई। इन सब परिस्थितियों से वीर बल्लाल को चोल पाण्ड्य राजनीति में मध्यस्थता करने का सुअवसर मिला। चोलों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके वस्तुतः वीर बल्लाल की दृष्टि होयसल साम्राज्य के निजी हितों के संवर्धन पर ही थी। इससे होयसलनाड की उत्तरी सीमा पर स्थित कदम्ब भी अपेक्षाकृत नियंत्रित हुए।

पाण्ड्य और चोल संघर्ष का विवरण प्रस्तुत हो चुका है। (द्रष्टव्य पृ० १२९–१३०) चोल नृप कुलोत्तुङ्ग पाण्ड्यों से प्रताड़ित होकर होयसलों की सहायता की ओर उन्मुख हुआ। तत्कालीन राजनीतिक वातावरण में होयसलों के अतिरिक्त और कोई राजवंश बचा भी नहीं था कि चोल जिनसे अपने अस्तित्व के लिये सहायता की आकाङ्क्षा करते। किन्तु यह कहना कठिन है कि होयसलों ने मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के विरुद्ध कुलोत्तुङ्ग की सहायता कब की और सुन्दर पाण्ड्य द्वारा प्रताड़ित कुलोत्तुङ्ग को बिना उच्छिन्न किये मदुरा लौट जाने में वीर बल्लाल के राजनीतिक प्रभाव का कितना हाथ था। किन्तु जब राजराज तृतीय ने पाण्ड्यों के प्रतिकार की चेष्टा की और चोल साम्राज्य के प्रति निष्ठाहीन अस्तूर के बाण और तगदूर के अड्डिगमानों को नियंत्रित करना चाहा तो वीर बल्लाल ने पूरी शक्ति के साथ कुलोत्तुङ्ग तृतीय के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तराधिकारी राजराज तृतीय की सहायता की। उसने अपने यशस्वी पुत्र नरसिंह को चोलों की सहायता के लिये भेजा जिसने बड़ी सफलतापूर्वक अडिगमान और बाण दोनों ही चोल-शत्रुओं को पराजित किया। इस सहायता से होयसलों की राजनीतिक प्रतिष्ठा द्विगुणित हो गयी और वीर बल्लाल तथा उसके पुत्र नरसिंह दोनों ही इस विजय के संदर्भ में अनेक विरुदों के साथ लोकप्रिय हुये। वीर बल्लाल १२१७–१८ तक 'चोलराज्यप्रतिष्ठाचार्यम्' 'पाण्ड्यगजकेशरी' के विरुद से प्रख्यात हुआ और उसका पुत्र नरसिंह भी 'चोलकुलैकरक्षक मगधोर्विपालनिर्मूलक' जैसे विरुद से विश्रुत हुआ। एक परवर्त्ती अभिलेख में जो वेलूर से प्राप्त हुआ है और ११२४ शक संवत् में प्रकाशित किया गया था, नरसिंह को 'चोलस्थापक' और 'पाण्ड्यखण्डन' के विरुद से वर्णित किया गया है।

वीर बल्लाल अथवा बल्लाल द्वितीय की मृत्यु १२२०–१२२३ ई० के आसपास हुई। मरने के पूर्व ही वह होयसल राजपीठ को नरसिंह के लिये सुरक्षित रहने की व्यवस्था कर चुका था। मृत्यु के कुछ मास पूर्व ही वह उसको होयसल राजपीठ पर स्थिर कर उसका अभिषेक कर चुका था।

वीर नरसिंह देव को अपने पिता की देख रेख में प्रशासन और युद्ध का अच्छा अनुभव था। वस्तुतः वह जीवन पर्यन्त अपने पिता की ही नीतियों का अनुसरण करता रहा। १२१७–१८ में उसने चोल-पाण्ड्य प्रसंग में जो वीरता प्रदर्शित की थी उसकी धाक समसामयिक राजनीति पर जम गई थी। १२२०–२१ में वह सर्वप्रथम सेउण के यादवों की ओर उन्मुख हुआ और परम्परागत शत्रुवंश कदम्बों से भी उलझा। किन्तु उसका अधिकांश समय चोल-पाण्ड्य मध्यस्थता में बीता। उसे अनेक बार चोलों की सहायता में दौड़ना पड़ा। १२२०–२१ ई० में उसने बाणों के विरुद्ध अभियान किया जो काञ्ची से चोलों के उन्मूलन के लिये वहां अड़े पड़े थे। काञ्ची पर न केवल बाणों की अपितु तेलुगु चोड गङ्गोपाल और वारङ्गल के काकतीयों की भी दृष्टि गड़ी हुई थी। ऐसी परिस्थिति में नरसिंह स्वयं काञ्ची में जम गया और चोलों के शत्रुओं को परास्त कर उसे चोलों के लिये निरापद किया। इसी वर्ष काडव कोपेरुञ्जिग के शमन के लिये नरसिंह को प्रयत्न करना पड़ा। (द्रष्टव्य पृ० १३३) ११२२ में, जब कि मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम ने राजराज तृतीय को आक्रान्त किया और उरैयूर तथा तञ्जोर को भस्म किया तो उसने पाण्ड्यों के विरुद्ध अभियान कर चोल

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजपीठ को सुरक्षित किया। इसी युद्ध-संदर्भ में उसने श्रीरङ्गम् तक धावा किया। इस प्रकार की सामरिक गतिविधियों से होयसल नरेश नरसिंह ने दोतरफा लाभ उठाया। एक ओर तो उसने पाण्ड्यों से कर और भेंट और दूसरी ओर अपने लिये चोल साम्राज्य का वह अञ्चल जो कन्ननूर के आस-पास था प्राप्त किया। यहां उसने अपने पुत्र सोमेश्वर को प्रतिष्ठित किया। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह भी था कि होयसलों का एक उपनिवेश तमिल जनपद में स्थापित करके वह पाण्ड्य और चोल राजनीति में अपेक्षाकृत सक्रियता प्रदर्शित कर सका तथा दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के बीच राजनीतिक शक्ति-संतुलन की स्थापना कर सका।

सोमेश्वर के कन्ननूर में स्थिर होने से पाण्ड्यों की चोलविरोधी हरकतों पर पर्याप्त नियंत्रण स्थापित हुआ। साथ ही चोल राजवंश के कतिपय अन्य प्रतिद्वन्द्वी काडव, अडिगमान और बाण भी नियंत्रित हुये।

वीर नरसिंह का अन्तिम ज्ञात अभिलेख १२३५ ई० का है। सम्भवतः १२३६ ई० में उसका पुत्र सोमेश्वर होयसल राजपीठ पर आसीन हुआ। सोमेश्वर का राजत्व (१२३४ ई० १२६३ ई० तक) बड़ी ही विषम परिस्थितियों का रहा। वस्तुतः इसी के शासनकाल से होयसल साम्राज्य की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। सोमेश्वर स्वयं चोल-पाण्ड्य राजनीति में आमूलचूड उलझा रहा और उसे कण्णानूर से फुरसत ही नहीं मिली कि वह अपने मूल जनपद होयसलनाड की भी फिक्र करता। फलतः आन्तरिक प्रशासन अत्यन्त भ्रष्ट हो गया और होयसलनाड के उत्तर में शत्रुओं का दबाव बढ़ता गया। तुङ्गभद्रा की घाटी भी निरापद नहीं रही। वहां सेउण-यादव आतंक मचाये हुये थे और मूल होयसलनाड को भी आक्रान्त करने की योजना में लगे हुये थे।

जब चोल राजपीठ पर राजेन्द्र तृतीय बैठा (१२४६ में वह युवराज बना था) तो उसके वंश की कुछ प्रतिष्ठा बढ़ी। उसने पारस्परिक नीति में कुछ परिवर्तन किया। वह एक तो पाण्ड्यों से बदला लेना चाहता था क्योंकि उसके लिये उसके पास उचित अवसर भी था। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम दिवङ्गत हो चुका था (१२३८–३९ ई०)। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे और जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के अभ्युदय (१२५१ ई०) के पूर्व पाण्ड्य राजवंश अपनी आन्तरिक परिस्थितियों से ऊपर उठने में असमर्थ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। इसने राजेन्द्र चोल का उत्साह विवर्धित किया और वह पाण्ड्यों को आक्रान्त करने का उचित अवसर ढूँढ़ने लगा।

उसकी नीति में दूसरा परिवर्तन यह था कि वह चोल जनपद में (कन्ननूर क्षेत्र में) होयसलों की अवस्थिति को चोलों की पारस्परिक परिस्थिति के विरुद्ध समझता था। तिरुनेवेल्लि दानपत्र में उसकी नीति की स्पष्ट घोषणा थी। उसमें उल्लेख है कि चोल नृप (राजेन्द्र तृतीय) ने पाण्ड्यों के प्रति विनम्र नीति का परित्याग किया और पुनलनाड (कावेरी की घाटी का कन्ननूर क्षेत्र) को होयसलों की अपेक्षा चोलों की सम्पत्ति समझा।

तीसरी नीति उसने अपने वंश के पारस्परिक मित्रराष्ट्रों और सामन्तों को पुनः चोल राजवंश के प्रति निष्ठावान् बनाने की अपनायी। होयसलों के विरोध के लिये यह परम आवश्यक था। साथ ही उसके पूर्व-सामन्त और मित्रराष्ट्र जिनमें नेल्लौर के तेलुगु चोड, काडव आदि प्रमुख थे, काञ्ची में होयसलों की अवस्थिति के प्रति सशङ्क थे और उन्हें वहां से अपदस्थ करना चाहते थे।

होयसल नृप सोमेश्वर भी चोलों के प्रति सशङ्कता का भाव रखने लगे थे। एतदर्थ जब चोल नृप राजेन्द्र ने पाण्ड्यों को आक्रान्त किया (द्रष्टव्य पृ० १३५) तो सोमेश्वर ने परम्परागत नीति के विरुद्ध राजेन्द्र तृतीय का साथ न देकर पाण्ड्यों का साथ दिया। मैसूर से प्राप्त कुछ अभिलेखों में वीर सोमेश्वर को 'पाण्ड्यकुलसंरक्षणदक्षदक्षिणभुजा' कहा गया है (द्रष्टव्य पृ० १३५) जो सोमेश्वर के नीति-परिवर्तन का द्योतक है। वस्तुतः होयसलों द्वारा पाण्ड्यों का पक्ष लेने के कारण ही पाण्ड्यों के विरुद्ध राजेन्द्र तृतीय की दाल न गल सकी थी।

किन्तु होयसल-चोल पारस्परिक नीति का यह नया मोड़ दोनों ही राजवंशों के लिये अहितकर सिद्ध हुआ। वस्तुतः जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (१२५१ ई०) का उदय होयसलों के लिये गम्भीर चिन्ता का विषय बन गया और होयसल-पाण्ड्य मैत्री सम्बन्ध अधिक दिनों तक स्थिर न रह सका। किन्तु इसके पूर्व कि होयसल चोलों से पूर्ववत् निबद्ध होते, चोलों की राजनीतिक अवस्थिति में तेजी से गिराव आयां। स्वयं होयसल भी पाण्ड्यों द्वारा आक्रान्त होकर न केवल कावेरी की घाटी की संप्रभुता खो बैठे बल्कि सोमेश्वर की जान पर आ बनी। होयसल-पाण्ड्य सम्बन्धों का संक्षिप्त विवरण श्रीरङ्गम् अभिलेख में है। इसके अनुसार जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने कावेरी घाटी को

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आक्रान्त किया और अनेक दुर्ग अधिकृत किये। इसी संघर्ष में प्रसिद्ध होयसल योद्धा सिङ्गण भी मारा गया। होयसलों के अनेक हाथी, घोड़े और प्रभूत धन पाण्ड्यों के हाथ लगा। और अन्त में, कन्ननूर कोप्पम् का दुर्ग जो कावेरी घाटी में होयसल प्रभुता का केन्द्र था, जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वारा अधिकृत किया गया। किन्तु संघर्ष का खातमा यहीं नहीं हुआ। श्रीरङ्गम् के अभिलेख में आगे उल्लेख है कि सुन्दर पाण्ड्य ने करण्टचन्द्र (सोमेश्वर) को परलोक भेज दिया। यह घटना १२६२ ई० के आसपास की प्रतीत होती है (द्रष्टव्य पृ० १४६)।

सोमेश्वर के मरने पर होयसल राजवंश की स्थिति बड़ी खराब हो गयी। उनका साम्राज्य दो भागों में बँट गया। मुख्य होयसलनाड सोमेश्वर के ज्येष्ठ पुत्र नरसिंह तृतीय के अधिकार में रहा और कावेरी की घाटी का कण्णानूर वाला इलाका सोमेश्वर के द्वितीय पुत्र वीर रामनाथ को मिला। यह व्यवस्था सम्भवतः सोमेश्वर ने ही कर दी थी जबकि वह १२५५ ई० में गम्भीर रूप से बीमार पड़ा था। उसके मरने पर दो साम्राज्य एक दूसरे से पृथक् हो गये। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के दिग्विजय के बाद कण्णानूर में रामनाथ की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। वह वस्तुतः जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के एक करद सामन्त राजा की स्थिति को प्राप्त हो चुका था और इसी स्थिति में उसे १२६४ से १२७४ ई० तक कालयापन करना पड़ा।

नरसिंह तृतीय की स्थिति भी होयसलनाड में १२७४ से १२९१ ई० के बीच बड़ी डांवाडोल थी। पूरे राज्य में अशान्ति थी। बाहरी शत्रुओं के आक्रमण का खतरा उसके सामने बराबर बना रहा। फिर भी वह उत्साही था अतः आने वाली हर विपत्ति की चुनौती का निर्भीकतापूर्वक सामना करता गया। सान्तरों के साथ युद्ध में उसे थोड़ी सफलता भी मिली जिससे उसके राजनीतिक गौरव में अभिवृद्धि हुई। उसने यादववंशीय महादेव और रामचन्द्र के आक्रमण का भी सफल प्रतिरोध किया और इस प्रकार १२९१ ई० तक होयसलनाड को बाहरी शत्रुओं से सुरक्षित किये रखा। किन्तु १२७९ ई० के लगभग उसे अपने भाई रामनाथ से ही बड़ा खतरा हुआ। पाण्ड्य नृप मारवर्मन् कुलशेखर ने इसी समय के लगभग कन्ननूर को आक्रान्त करके वहां से रामनाथ को भगा दिया और इस प्रकार तमिल जनपद से होयसल संप्रभुता और प्रभाव को नष्ट कर दिया। वहां से अपदस्थ होकर उसने होयसलनाड को आक्रान्त किया। उसके आक्रमण से अन्ततोगत्वा नरसिंह तृतीय के राज्य को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बड़ी क्षति पहुँची और वह होयसलनाड के कुछ अंशों को छीनकर कुन्डाणी (बंगलोर जिला) केन्द्र से शासन करने लगा । नरसिंह अपने राज्य की एकता के लिये आजीवन रामनाथ से जूझता रहा । उस बीच नरसिंह तृतीय के विरुद्ध सान्तर और सेउणवंशीय नृप भी प्रबल पड़ गये थे । उसके राज्य की स्थिति में फिर भी कुछ सुधार सम्भव न हुआ जब तक कि उसके राजपीठ पर उसका पुत्र बल्लाल तृतीय आसीन नहीं हुआ । बल्लाल तृतीय के शासन का प्रारम्भ १२९१–९२ में हुआ ।

बल्लाल तृतीय तेजस्वी और पराक्रमी था । वस्तुतः इसने होयसलवंश की आशातीत श्रीवृद्धि की होती किन्तु यह अपनी क्षमता और प्रतिभा के अनुपात से कहीं अधिक विपत्तियों से घिरा रहा । उसकी सामरिक क्षमता का अधिकांश अपने विद्रोही सामन्तों के दमन में व्यय हुआ । उसे पाण्ड्यों के वर्धमान साम्राज्य से भी भारी खतरा था । यह वस्तुतः उसके पौरुष की कसौटी थी जिस पर वह खरा उतरा । उसके शासन काल में बहुशः प्रयत्न करके भी पाण्ड्य सैनिक होयसलनाड पर अपना पद स्थापित न कर सके । सेउण-वंशीय यादव होयसलों के जन्मजात शत्रु थे । नरसिंह तृतीय ने यादवराज रामचन्द्र के आक्रमण का सफल प्रतिरोध तो कर लिया था किन्तु उनसे होयसलों के अस्तित्व को अभी भी खतरा था । १३०३ ई० में बल्लाल तृतीय ने गाङ्गेय साहणि को भारी सेना सहित भेज कर सेउण जनपद को आक्रान्त किया । यह वस्तुतः रामचन्द्र के पूर्व अभियान का जवाबी हमला था । गाङ्गेय साहणि ने बनवासी और सिरिसे में यादवों और कदम्बों से युद्ध किया । बल्लाल स्वयं भी इस युद्ध में स्थिति संभालने पहुँचा और अपने पौरुष से उसने शिकोल, बनवासी, शान्तलिग और कोगलि को सेउण यादवों से छीन कर अधिकृत किया । पाण्ड्यों से वह क्रमशः किङ्ग, मुगदै और होण्डैनाड छीनने में समर्थ रहा और काञ्ची तथा तिरुवन्नामलै को उसने वापस पा लिया । उसने अपने राज्य की काञ्ची में उपराजधानी स्थापित की । इस प्रकार १३१० ई० के आसपास उसने पूर्व होयसल गौरव को न केवल सुरक्षित कर लिया अपितु रामनाथ के समय में विभक्त होयसल साम्राज्य को एकबद्ध भी कर लिया । किन्तु वह अपने पौरुष द्वारा अर्जित होयसल समृद्धि का प्रयोग न कर सका । इसी बीच अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने द्वारसमुद्र को आक्रान्त किया । इस चोट को बचाने के लिये बल्लाल तृतीय द्वारसमुद्र से भाग गया और जब मलिक काफूर द्वारसमुद्र से चला गया तो पुनः द्वारसमुद्र वापस लौट अपने

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजकीय सत्ता के पुनःस्थापन की व्यवस्था में लगा। किन्तु अभी वह सँभल भी नहीं पाया था कि उसे तुगलकी आक्रमण का प्रतिरोध करना पड़ा। इस आक्रमण के परिणामस्वरूप मदुरा और कन्ननूर में मुस्लिम छावनियों की स्थापना हो गयी। बल्लाल तृतीय ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी और आजीवन दक्षिणभारत से मुस्लिम आधिपत्य का बोझ उखाड़ फेंकने के लिये जूझता रहा। इसी प्रयत्न में मदुरा के मुस्लिम राज्य के विरुद्ध युद्ध करते हुए वह त्रिचनापल्ली के पास वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी मृत्यु से न केवल होयसल राजवंश अन्त को प्राप्त हुआ अपितु दक्षिण भारत के प्राचीन राजवंशों की परम्परा के अन्त का भी सूत्रपात हुआ।

होयसल राजवंश तालिका[1]

नृपकाम होयसल अथवा शाल (१००६ ई० अथवा १०२२ ई० से १०४७ ई० तक)
- विनयादित्य (१०४७ ई०—१०९७-९८ ई०)
  - इरैयङ्ग (१०९७-९८—११०२ ई०)
    - बल्लाल प्रथम (११०२ ई०-११०६ अथवा ११०९ ई०)
    - विष्णुवर्धन (११०८-११४२ ई०)
      - वीर नरसिंहप्रथम (११४२-११७३ ई०)
        - बल्लाल द्वितीय (११७३-१२२३ ई०)
          - नरसिंह द्वितीय (१२०० अथवा १२२३-१२३५ ई०)
            - सोमेश्वर (१२३४-१२६३ ई०)
              - नरसिंह तृतीय (१२६२-१२९१ई०)
                - बल्लाल तृतीय (१२९१-१३३३ ई०)
              - रामनाथ (१२५४-१२९८ ई०)
                - विश्वनाथ (१२९५-१२९७ ई०)

---

१. होयसल राजवंश का तिथि-निर्धारण विवाद का विषय है। अन्य मतों के लिये द्रष्टव्य—ए हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया, पृ० २१६; स्ट्रगिल फार इम्पायर, पृष्ठ २२६-२३३ ई०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय १२

मुस्लिम आक्रमण : प्राचीन राजवंशों का पतन

चोल, पाण्ड्य और होयसल इन राजवंशों की परिसमाप्ति से वस्तुतः प्राचीन राजवंशों का अन्त हो गया। दक्षिण भारत के राजनीतिक जीवन में प्राचीन राजनीतिक परम्पराओं का धीरे-धीरे अन्त हुआ और नयी शक्तियों का उदय हुआ। मलिक काफूर के आक्रमण (१३१० ई०) ने दक्षिण भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में इस्लामी तत्वों को व्यापकता दी। प्राचीन राजवंशों की परिसमाप्ति से कुछ नवीन राजवंशों का भी उदय हुआ जो स्वरूप और महत्त्व की दृष्टि से प्राचीन राजवंशों से तुलनीय थे। उनमें विजयनगर साम्राज्य का महत्त्व विवेचनीय है। किन्तु इसके पूर्व दक्षिणभारत की राजनीति में मुस्लिम तत्वों के समावेश की प्रक्रिया और प्रभाव के तथ्य भी विचारणीय हैं।

बारहवीं शती में दिल्ली में इस्लामी सल्तनत अपनी जड़ जमा चुकी थी। उत्तरभारत के प्रायः सभी प्राचीन राजवंश एक-एक कर अपना अस्तित्व खो चुके थे। दक्षिणापथ और दक्षिणभारत के प्राचीन राजवंशों के ऐश्वर्य की बड़ी ख्याति उत्तर भारत में भी थी। अलाउद्दीन खिलजी की लोलुप दृष्टि दक्षिण भारत पर केन्द्रित हुई। धन के लोभ में अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण अभियान की योजना प्रस्तुत की। वस्तुतः जब वह (१२९६ ई०) सुल्तान नहीं हुआ था तभी देवगिरि के यादव नृप रामदेव को आक्रान्त कर भारी लूट-पाट कर चुका था। देवगिरि के यादवों से उसे अपार सम्पत्ति की उपलब्धि हुई थी जिसका उपयोग उसने अपनी राजत्व-प्राप्ति और उसकी स्थिरता के लिये किया था। सुल्तान होने पर भी उसने लूट-खसोट की नीति न छोड़ी। उसकी लोलुप दृष्टि उन समस्त हिन्दू राजवंशों पर थी जो कि दक्षिणापथ और दक्षिणी भारत की समृद्धि के आधार थे। १३०३–४ ई० में उसने मलिक फखरुद्दीन जूना (मुहम्मद तुगलक) को वारङ्गल भेजा। उसने वारङ्गल आक्रान्त किया किन्तु स्वयं मुँह की खा गया। इससे दक्षिण में मुस्लिम सेना की प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात पहुँचा। देवगिरि के यादव भी अलाउद्दीन के प्रति विद्रोही हो गये। रामदेव का पुत्र सङ्गम बड़ा तेजस्वी था और अपनी प्राचीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परम्परा तथा गौरव के प्रति जागरूक था। वह पिता द्वारा अलाउद्दीन के प्रति समर्पण-भावना और मैत्री-सम्बन्ध निर्वाह नीति का घोर विरोधी था। उसके विपरीत रामदेव कायर और मुस्लिमपरस्त था। वह अपने विद्रोही पुत्र सङ्गम को अलाउद्दीन के हाथों सौंपने को उद्यत हो गया तथा देवगिरि में सङ्गम के नेतृत्व में चलने वाले स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की। १३०७ ई० में सङ्गम के विरुद्ध दिल्ली सुल्तान ने मलिक काफूर के साथ एक सेना भेजी जिससे सङ्गम पराजित होकर देवगिरि से भाग गया। किन्तु रामदेव को भी अपने किये की सजा मिली। उसे उसकी वफादारी के बदले सपरिवार बन्दी बना कर दिल्ली भेज दिया गया जहां छ मास रहने के बाद वह इस शर्त पर छोड़ दिया गया कि वह आजीवन अलाउद्दीन के प्रति निष्ठावान् बना रहेगा।

१३०९ ई० में मलिक काफूर पुनः देवगिरि आया। रामदेव ने उसकी पूरी आवभगत की और उसके वारङ्गल अभियान में सक्रिय सहायता की। महीनों के घेरे के बाद वारङ्गल का पतन हुआ और वहां के तेलुगु राजवंश के उत्तराधिकारी प्रतापरुद्र को सुल्तान को भारी हर्जाना देना पड़ा। वारङ्गल के पतन के बाद सम्पूर्ण दक्षिणापथ और आन्ध्रपथ दिल्ली के सुल्तान के प्रभाव में आ गया। अब दक्षिण भारत के होयसलों और पाण्ड्य राजवंशों की बारी थी। १३१० ई० में मुस्लिम सेना देवगिरि से होयसलों के विरुद्ध चली। इन दिनों बल्लाल तृतीय होयसल राजपीठ पर आसीन था। देवगिरि के रामदेव और बल्लाल तृतीय में बहुत दिनों से संघर्ष चल रहा था। इसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण रामदेव खिलजी सेना की सहायता में अपेक्षाकृत अधिक तत्पर रहा। उसका एक पुत्र परशुरामदेव खिलजी सेना के अभियान पथ के निर्देशन के लिये नियुक्त हुआ।

जब होयसलनाड आक्रान्त हुआ तो बल्लाल तृतीय बाहर था। वह पाण्ड्यों के गृहयुद्ध में हिस्सा लेकर अपनी गोटी बैठाने के फेर में पड़ा था। उसकी अनुपस्थिति में द्वारसमुद्र घेर लिया गया। इस समाचार को पाकर बल्लाल तृतीय द्वारसमुद्र की ओर दौड़ा किन्तु उसके पहुंचने के पूर्व ही द्वारसमुद्र पर मलिक काफूर का कब्जा हो गया। बल्लाल तृतीय परिस्थितिवश काफूर से युद्ध न कर सका और चुपचाप मलिक काफूर को होयसल समृद्धि की भेंट चढ़ाता रहा। वह अलाउद्दीन का करदीकृत हुआ। धर्म और इस्लाम के नाम पर अलाउद्दीन की फौजों ने देवगिरि, वारङ्गल और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वारसमुद्र में जो लूटपाट की और धन कमाया वह अलाउद्दीन के ऐश्वर्य और समृद्धि का वास्तविक आर्थिक आधार सिद्ध हुआ।

मलिक काफूर द्वारसमुद्र से मावर (मदुरा) की ओर बढ़ा। मदुरा का पाण्ड्य साम्राज्य इन दिनों उत्तराधिकार युद्ध के कारण विपन्नावस्था में था (द्रष्टव्य पृ० २४९-५१)। वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य के आपसी कलह ने मलिक काफूर को मदुरा लूटने का अनुकूल अवसर दिया। पाण्ड्य राजवंश तो बच गया किन्तु मदुरा तहस-नहस हो गया। मलिक काफूर की फौजों ने वीर पाण्ड्य का पीछा करते करते कन्ननूर (कन्दूर) तक का धावा किया और फिर चिदम्बरम् (बरमतपुरी अथवा ब्रह्मस्वपुरी) पहुँचा। यहां उसने पवित्र मन्दिर को ध्वस्त कर दिया और मन्दिर के प्रभूत वैभव को अपहृत किया। इसके बाद श्रीरङ्गम् के मन्दिर को लूटा और फिर मदुरा चला आया। इस बार मदुरा के भी पवित्र मन्दिरों को उसने ध्वस्त किया। किन्तु यहां मलिक काफूर की स्थिति विषम हो गयी। इसी बीच सुन्दर पाण्ड्य को हरा कर विक्रम पाण्ड्य अपनी शक्ति केन्द्रित कर रहा था। उसने मलिक काफूर को मदुरा से भगा दिया। भारतीय समसामयिक साहित्य के अनुसार यहीं से मलिक काफूर सीधे दिल्ली भाग गया (१३११ ई०)। किन्तु मुस्लिम इतिहासकारों ने मलिक काफूर के पराजय की चर्चा तक नहीं की है और इसके विपरीत यह कहा है कि मदुरा का विजेता मलिक काफूर रामेश्वरम् तक गया जहां उसने वहां के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ कर उसे मस्जिद में परिणत किया।

मलिक काफूर के दिल्ली लौट जाने पर प्राचीन राजवंशों को पुनः अपनी जड़ जमाने का कुछ अवसर मिला। देवगिरि में १३१२ ई० के लगभग रामदेव मर चुका था और उसके स्थान पर सङ्गम देवगिरि के राजपीठ पर आसीन था। उसकी स्थिति अलाउद्दीन के दक्षिण विस्तार के लिये खतरनाक थी अतएव १३१२ ई० में अलाउद्दीन की ओर से देवगिरि के विरुद्ध मलिक काफूर पुनः भेजा गया। इस बार भी सङ्गम कुछ न कर सका और उसे मलिक काफूर के हाथों में देवगिरि छोड़ कर भाग जाना पड़ा। किन्तु कम्पिलि के यादवों ने मुस्लिम सत्ता को स्वीकार न किया। कम्पिलि के यादवों की अधीनता और नेतृत्व में बेल्लारी, रायचूर, धारवार का इलाका मुसलमानों के विरोध में सन्नद्ध था। बड़ी कशमकश के बाद भी मलिक काफूर को कम्पिलि के यादवों के विरुद्ध कोई सफलता न मिली। उसे दिल्ली लौट जाना पड़ा। उसके दिल्ली लौटते ही देवगिरि के यादव भी स्वतंत्र हो गये। इस बीच पाण्ड्य नृप विक्रम पाण्ड्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और होयसल नृप बल्लाल तृतीय भी बड़े सक्रिय रहे। विक्रम पाण्ड्य अपने ध्वस्त पाण्ड्य साम्राज्य को सँजोने के लिये ईंट-पत्थर जुटा रहा था और बल्लाल तृतीय होयसलनाड की प्राचीन साम्राज्यवादी परम्परा के अन्तर्गत लुप्तप्राय प्राचीन राजवंशों का एकीकरण करने में व्यस्त था। इसी बीच ट्रावङ्कोर का नृप रविवर्मन् कुलशेखर पाण्ड्य राजवंश के विरुद्ध सक्रिय हुआ और मदुरा को अधीन करना चाहा। किन्तु काकतीय नृप प्रतापरुद्र द्वितीय की सहायता से (१३१७ ई०) रविवर्मन् कुलशेखर पाण्ड्यों के विरुद्ध कुछ अधिक लाभान्वित हो सका (द्रष्टव्य पृ०)।

किन्तु प्राचीन राजवंशों की इस प्रकार की गतिविधि अधिक दिनों तक न चल सकी। दिल्ली के सुलतान मुबारक खिलजी की आंख देवगिरि की ओर लगी थी और अवसर मिलते ही (१३१८ ई०) वह खुसरो खां के साथ देवगिरि पर चढ़ दौड़ा। इस समय देवगिरि रामदेव के जामाता हरपाल के आधिपत्य में था। हरपाल ने खिलजी सैनिकों का मुकाबला साहसपूर्वक किया और अन्त में वीरगति को प्राप्त किया। देवगिरि को दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया। इस सफलता से उत्साहित होकर द्वारसमुद्र को भी आक्रान्त किया गया। किन्तु इस अवधि में बल्लाल तृतीय की शक्ति प्रबल थी और मुबारक के सैनिक द्वारसमुद्र में मुंह की खाकर दिल्ली लौट गये। किन्तु शीघ्र ही भारी तैयारी के साथ खुसरो पुनः दक्षिण की ओर लौट आया। पहले तो उसने देवगिरि में मुस्लिम सूबेदार मलिक याक लखी के विद्रोह का शमन किया और फिर वारङ्गल के काकतीयवंशीय प्रतापरुद्र द्वितीय को वशीकृत किया। तदुपरान्त उसने मावर को आक्रान्त किया और मदुरा को घेर लिया। इस बार पुनः पाण्ड्य नृप मदुरा को अरक्षित छोड़ भाग गये और मुस्लिम सैनिकों को बिना विरोध मदुरा लूटने का अवसर मिला। किन्तु वहां वह लूटपाट से अधिक कुछ न कर सका और दिल्ली लौट आया।

तुगलकों ने दक्षिण भारत के प्राचीन राजवंशों के प्रति पूर्व की अपेक्षा अधिक क्रूर नीति का अनुसरण किया। गयासुद्दीन तुगलक ने दक्षिण भारत से हिन्दू राज्यों के अस्तित्व को मिटा डालने का संकल्प किया था। १३२१ में उसने उलुघ खाँ को देवगिरि होकर तेलङ्गाना के काकतीयों के उन्मूलन के लिये वारङ्गल भेजा। प्रतापरुद्र ने, जो इन दिनों मुस्लिम प्रतिरोध के लिये अपेक्षाकृत प्रस्तुत था, वारङ्गल के दुर्ग में भारी तैयारी की। ६ महीने तक की घेरेबन्दी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बाद भी तुगलकी फौजों का अधिकार वारङ्गल दुर्ग पर न हो सका। अन्त में उलुघ खाँ को प्रतापरुद्र से सन्धि कर लेनी पड़ी। फिर भी वारङ्गल से देवगिरि तक के प्रत्यावर्तन में उलुघ खाँ को भारी क्षति उठानी पड़ी और तुगलक की फौज तबाह हो गयी।

तुगलकी सैनिकों के पराजय की बड़ी गहरी प्रतिक्रिया हुई। गयासुद्दीन दिल्ली में बैठा-बैठा दक्षिण भारत के लिये बेचैन हो उठा और वारङ्गल के विनाश के लिये कृतसङ्कल्प हो उठा। किन्तु वारङ्गल में स्थिति विपरीत रही। काकतीय सैनिक आसन्न विपत्ति को टली विपत्ति समझ कर मंगल-मोद में व्यस्त हो गये और बड़े श्रम से संगठित सेना उनके द्वारा विघटित कर दी गयी। फिर १३२३ ई० में सहसा जब तुगलक की सेना बीदर और बोधन को अधिकृत करते हुए वारङ्गल पहुँची तो प्रतापरुद्र युद्ध के लिए अनुकूल परिस्थिति में न था। पाँच महीनों के घेराव के बाद प्रतापरुद्र को हार माननी पड़ी और वह परिवार सहित बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। किन्तु प्रतापरुद्र ने मार्ग ही में आत्महत्या कर ली।

वारङ्गल के पतन के बाद दक्षिण भारत के राजवंशों की अवस्थिति पूर्व की अपेक्षा अधिक डांवाडोल हो गयी। लगभग सम्पूर्ण तेलुगुक्षेत्र दिल्ली सल्तनत का अङ्ग बन गया। उसके बाद उलुघ खाँ ने पाण्ड्य राजवंश के उन्मूलन की सफल चेष्टा की। उसने मदुरा घेर कर पराक्रम पाण्ड्य को वश में किया और उसे दिल्ली भेज दिया (द्रष्टव्य पृ० १५३) और मदुरा दिल्ली सल्तनत का अङ्ग बन गया।

मदुरा के पतन के बाद (१३२३ ई०) प्रायः सभी महत्वपूर्ण राजवंशों का पतन हो गया। केवल होयसल शेष थे। कम्पिलि में एक नया राजवंश भी उदीयमान था, जो अपने जन्म (चौदहवीं शती के आरम्भ) के साथ ही इस्लामी राज्य-विस्तार नीति का प्रतिरोध करने लगा था। किन्तु इस राजवंश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति बड़ी विषम थी। इसके उदय का विरोध वारङ्गल के काकतीय और द्वारसमुद्र के होयसल कर रहे थे। इस आन्तरिक अवरोध के कारण कम्पिलि का नृप कम्पिलदेव तुगलकी विस्तार का सामना अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता से न कर सका। फिर भी जिस दृढ़ता से उसने मुस्लिम आक्रमण का प्रतिरोध किया उससे भारतीय वीरता की परम्परा यशस्विनी हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कम्पिलि पर मुस्लिम आक्रमण मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५–१३५१ ई०) के शासन काल में हुआ। मुहम्मद बिन तुगलक का विद्रोही बहाउद्दीन गुर्शाप, जो सागर का सूबेदार था भाग कर कम्पिलदेव के शरणापन्न हुआ था। इस कारण तुगलक ने कम्पिलि के विरुद्ध सेना भेजी जो वीर कम्पिलदेव द्वारा पराजित हो गयी (१३५७ ई०)। किन्तु दिल्ली सुल्तान ने पुनः एक सेना भेजी जो पूर्व सेना की अपेक्षा बहुत बड़ी थी। विवश होकर कम्पिलदेव को होसदुर्ग (अनगोण्डी दुर्ग) में मुस्लिम प्रतिरोध करने के लिये किलेबन्दी करनी पड़ी। इस दुर्ग को तुगलकी फौज ने चारों ओर से घेर लिया। जब और अधिक सुरक्षा की सम्भावना नहीं रही तो कम्पिलदेव ने किले की समस्त नारियों को सती होने के लिये प्रेरित किया। स्त्रियों ने सती होकर आत्मदाह किया और पुरुषों ने रणस्थल में जूझकर वीरगति प्राप्त की। होसदुर्ग पर आधिपत्य होने पर अनन्तपुर, चीतलदुर्ग, शिमोग, रायचूर, धारवार और बेलारी जिलों का इलाका दिल्ली सलतनत का अङ्ग बन गया।

मुहम्मद बिन के सैनिक कम्पिलि से निकल द्वारसमुद्र पर टूट पड़े। वहां वीर बल्लाल तृतीय वैसे तो मुस्लिम साम्राज्यवादिता का विरोधी था किन्तु परिस्थितिवश उसने मुहम्मद बिन तुगलक की संप्रभुता को क्षणिक मान्यता दे दी और फिर विपत्ति टल जाने पर दक्षिण भारत से मुसलमानी आधिपत्य की परिसमाप्ति के लिये सचेष्ट हो गया।

खिलजी और तुगलक आक्रमणों ने दक्षिण भारत की राजनीतिक विचार धारा और स्वरूप में आमूल परिवर्तन किया। दक्षिण भारत के प्राचीन राजवंशों में राजनीतिक सार्वभौम प्रभुत्व के लिये परस्पर संघर्ष हुआ करते थे और उन में जो प्रबल सिद्ध होता उसकी औपचारिक अथवा वास्तविक संप्रभुता के प्रति समर्पण का भाव व्यक्त करने के बाद वास्तविक दृष्टि से प्रशासनात्मक औपचारिकता का उपभोग करते थे। खिलजी आक्रमणों के प्रति भी समसामयिक प्राचीन राजवंशों ने यही दृष्टिकोण अपनाया। वे खिलजी आक्रमण के दूरगामी प्रभाव के प्रति सतर्क न थे बल्कि वे परस्पर एक दूसरे राजवंश के पतन के तमाशबीन भी थे। देवगिरि के यादवों का उदाहरण अप्रतिम है। वस्तुतः देवगिरि समस्त मुस्लिम अभियानों का सामयिक अधिष्ठान था जहां मुस्लिम फौजें रसद पानी पातीं और यहीं से दक्षिण के राज्यों के विरुद्ध होने वाले अभियानों की रूपरेखा निर्धारित होती। वारङ्गल, मदुरा और द्वारसमुद्र के प्राचीन राजवंश भी परस्पर मैत्री का भाव नहीं रखते थे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और एक दूसरे के पतन की आधार-शिला पर अपने साम्राज्य की नींव खड़ी करना चाहते थे। किन्तु तुगलकी नीति के अन्तर्गत जब प्राचीन राजवंशों का एक-एक करके लोप होने लगा और परम्पराप्राप्त राजनीतिक पद्धति में सहसा उलट फेर होने लगा तो प्राचीन राजवंशों के राजनीतिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन सम्भव हुआ। अब सभी राजवंश समवेत मुस्लिम आधिपत्य के विरुद्ध सक्रिय हुये।

खेद है कि मुस्लिमों के विरोध में प्राचीन राजवंशों के प्रयास का इतिहास ज्ञात नहीं है। समसामयिक मुसलिम इतिहासकारों का विवरण एकाङ्गी है जिसमें दक्षिणभारत में मुसलमानों के विरोध में चलने वाले राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों का कुछ भी विवरण नहीं है। इस्लामी प्रसार नीति से प्रभावित प्रायः सभी हिन्दुओं में तुगलकी अनाचार के प्रति विद्रोह की भावना थी और यत्र तत्र प्रयास हो रहा था कि समवेत होकर तुगलकी साम्राज्य के स्तम्भों को ध्वस्त कर दिया जाय। वारङ्गल में गयासुद्दीन के समय ही में वारङ्गल के काकतीयों के नेतृत्व में हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों के प्रतिरोध का एक बार सफल प्रयास हो चुका था। वारङ्गल राजवंश के पतन के बाद काकतीयों की एक शाखा दक्षिणी आन्ध्र के पकनाडु में स्वाधीनता के प्रति सक्रिय थी। यहां प्रोलय नायक के नेतृत्व में प्रोलय वेम और भक्तिराज भी स्वाधीनता संग्राम के लिये योजना बद्ध थे। प्रोलय बेम अड्डकिं और कोण्डबीड़ के रेड्डि राजवंश का संस्थापक था और भक्तिराज इसव के तेलुगु चोड राजवंश का। इन सबों ने मिलकर कृष्णा तुङ्गभद्रा घाटी में मुसलिम आधिपत्य से प्राचीन राजवंशों के विमोचन के लिये जो प्रयास किया उसका सद्यः फल यह हुआ कि आन्ध्रपथ के तटीय इलाकों से मुसलमानों का निष्कासन हुआ और भद्राचलम् के पास इरपल्लि में प्रोलय नायक के नये राजवंश का जन्म हुआ। प्रोलय की मृत्यु के बाद १३२५ ई० के लगभग इसका भतीजा कापय नायक अथवा कृष्ण नायक प्रोलय का उत्तराधिकारी हुआ। यह भी हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत था तथा इसने दक्षिण भारत की समस्त राजनीतिक शक्तियों को एक सूत्र में बांध कर इस्लामी राजनीतिक आधिपत्य को दक्षिण भारत से समाप्त करने की यशस्वी चेष्टा की।

१३३४-३५ ई० में मुहम्मद बिन तुगलक के सूबेदार सैयद अहसनशाह ने मावर (मदुरा) में स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की स्थापना कर ली। मुहम्मद बिन तुगलक का पुनः मदुरा को दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत लाने का प्रयास असफल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो चुका था। हिन्दू राजवंशों को दक्षिण भारत के वक्ष से मुस्लिम आधिपत्य की दाग मिटाने की बड़ी चिन्ता थी। सैयद अहसन शाह का शासन मदुरा में लोकप्रिय नहीं था और सर्वत्र मदुरा के इस्लामी सल्तनत के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही थी। गंगादेवी के 'मधुरा विजयम्' महाकाव्य में सुल्तानी शासन की कुव्यवस्था तथा हिन्दुओं की दशा का बड़ा ही कारुणिक चित्रण है। इसके अनुसार मन्दिरों में पूजा बन्द थी और वे वियावान पड़े थे। उनमें मृदङ्ग की मधुर ध्वनि की जगह शृगालों के रुदन गूंज रहे थे। अग्रहार ग्रामों में यज्ञ धूम की जगह सर्वत्र भुने गोस्त की दुर्गन्ध व्याप्त थी। मदुरा के आसपास का दृश्य बड़ा ही दारुण था। वहां उगे नारिकेल वृक्ष काट डाले गये थे तथा चारों तरफ बांस गाड़ कर उनपर नर-मुण्ड लटका दिये गये थे। ताम्रपर्णि का जल गो रक्त से लाल हो उठा था। लोग वेद भूल गये थे और धर्म लुप्त हो गया था। पुण्य और सद्कृत्य का कहीं नाम नहीं था। अभागे द्राविड़ों के मुख पर निराशा की रेखाएं अंकित थीं।

प्राचीन राजवंशों के प्रतिनिधियों की दृष्टि पहले मदुरा के इस्लामी सल्तनत पर पड़ी। कापय नायक ने उसके लिये एक सामरिक संघ संघटित किया जिसके अन्दर दक्षिण भारत के पचहत्तर राजवंश सदस्य के रूप में थे। कापय ने होयसल नृप बल्लाल तृतीय से भी मैत्री की और दोनों ने मुस्लिम प्रतिरोध की रूपरेखा निर्धारित की। दोनों में यह तय पाया गया कि बल्लाल अपनी उत्तरी सीमा में सुदृढ़ रक्षा व्यवस्था करेगा और अपनी सेना का एक अंश कापय को तेलङ्गाना की स्वतन्त्रता के लिये देगा। दोनों ही मोर्चों पर हिन्दू सफल रहे। कापय ने होयसलों की सम्मिलित सेना के साथ वारङ्गल को आक्रान्त किया और वहां से मलिक मकबूल (तुगलकी सूबेदार) को पलायित कर क्रमशः सम्पूर्ण आन्ध्रपथ को मुस्लिम आधिपत्य से मुक्त कर लिया। बल्लाल तृतीय भी रक्षापंक्ति को सुदृढ़ करने में सफल रहा। फिर दोनों ने मिलकर मदुरा के इस्लामी सल्तनत को आक्रान्त किया और तोण्डमण्डलम् को भी स्वाधीन कर काञ्ची में वेनरुमनकोण्डान् शाम्बुराय को काञ्ची की सुरक्षा के लिये प्रतिष्ठित किया। शाम्बुराय ने वहां एक नये राजवंश को जन्म दिया।

कृष्णा की घाटी में चालुक्य वंशीय सोमेश्वर भी स्वाधीनता के लिये सक्रिय था। उसे प्रोलय और उसके उत्तराधिकारी कापय नायक का समर्थन और सहयोग प्राप्त था। सोमेश्वर ने मुस्लिम आधिपत्य के विरुद्ध अनेक सफल युद्ध किये और दुर्ग छीने किन्तु उसकी सबसे बड़ी सफलता कम्पिलि का उद्धार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। कम्पिलि के दो सूबेदार हरिहर और बुक्का थे। ये दोनों कम्पिलदेव के आधिपत्य में दो सेनानी थे जो एक पूर्व युद्ध में मुस्लिम सैनिकों द्वारा बन्दी बना लिये गये थे। मुहम्मद बिन तुगलक ने इन दो भाइयों को इस्लाम स्वीकार करने के लिये विवश किया था और मुसलमान हो जाने पर इन्हें कम्पिलि का सूबेदार नियुक्त कर दिया था। सोमेश्वर से पराजित होकर ये पुनः निराश्रित हो गये और इधर उधर भटकने लगे। इसी विषम परिस्थिति में इनकी भेंट विद्यारण्य से हुई, जिसकी प्रेरणा से दोनों भाइयों ने इस्लाम का त्याग किया और विजयनगर की नींव डाल कर (१३३६ ई०) दक्षिण भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन के सक्रिय योद्धा हो गये।

बल्लाल तृतीय का मदुरा की स्वाधीनता में बड़ा हाथ था। किन्तु उसकी विशेष सक्रियता त्रिचनापल्ली (उरैयूर) और कन्नानूर में थी। कन्नानूर में होयसल आधिपत्य को पुनरुज्जीवित करने के लिये सचेष्ट था। १३४२ ई० में उसने उरैयूर को आक्रान्त किया और उसे अपने अधीन किया। इब्नबतूता के अनुसार बल्लाल तृतीय कन्नानूर की स्वाधीनता के लिये एक लाख की हिन्दू फौज और बीस हजार वेतन भोगी मुसलमान सैनिकों की फौज लेकर सक्रिय था। उसकी योजना सफलता के सन्निकट थी कि त्रिचनापल्ली के निकट एक संग्राम में मुसलमानों द्वारा वह मार डाला गया (१३४२ ई०)। उसकी मृत्यु से अन्तिम प्राचीन राजवंश होयसलों की भी परिसमाप्ति हुई यद्यपि उसका पुत्र बल्लाल चतुर्थ ने कुछ दिनों तक होयसलों के स्वामित्व का उपभोग किया। बाद को कन्नानूर सहित होयसल नाड विजयनगर का अङ्ग बन गया। विजयनगर के एक सामन्त कम्पन ने १३७७–७८ ई० में मदुरा को आक्रान्त करके वहां से इस्लामी सत्ता को समाप्त किया।

इस प्रकार समस्त प्राचीन राजवंशों का अन्त हुआ। किन्तु मुस्लिम सत्ता के विरुद्ध प्राचीन राजवंशों और उनके उत्तराधिकारियों की कशमकश सर्वथा व्यर्थ न गयी। वस्तुतः उन राज्यों द्वारा संचालित स्वाधीनता आन्दोलन ने ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया कि जिससे प्राचीन आदर्शों और मान्यताओं के अनुरूप 'विजयनगर' जैसे महान् साम्राज्य के अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट १

दक्षिण भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया का राजनीतिक सम्बन्ध

दक्षिण भारत की संस्कृति की द्वीपान्तर व्याप्ति का इतिहास अति प्राचीन है। सम्पूर्ण देश के साथ दक्षिण भारत के नाविकों और व्यापारियों ने भी सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप-द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति और राजनीति के कतिपय महत्त्वपूर्ण केन्द्र स्थापित किये थे। अतिप्राचीन काल में 'कृण्वन्तो-जगदार्याः' की भावना से प्रेरित होकर अगस्त्य के पारम्परिक अनुयायियों ने बड़े श्रम और धैर्य के साथ आर्य संस्कृति का प्रसार अनार्य भूमि में किया था। पारम्परिक इतिहास के अनुसार दक्षिण भारत की तमिल संस्कृति के जनक और पोषक के रूप में अगस्त्य की मान्यता है। दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति के पारम्परिक प्रचारकों के रूप में अगस्त्य पूज्य थे। दक्षिण भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देववाद में अगस्त्य की समान मान्यता थी और दोनों ही की कला में अगस्त्य के मूर्ति-विधान को समान स्थान प्रदान किया गया था।

सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारतीय सम्बन्धों में उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से एकरूपता नहीं थी। जातकों के विवरण के अनुसार काशी, मथुरा, चम्पा, कलिङ्ग जैसे उत्तरी भारत के कई नगरों के व्यापारियों ने सुवर्ण-द्वीप अथवा सुवर्णभूमि से काशी आदि नगरों का सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। फलतः दक्षिण-पूर्व एशिया में व्यापारियों और नाविकों के मूल-स्थान सूचक काशी, मथुरा, अयोध्या, चम्पा आदि नगर और जनपद स्थापित हुये थे। मौर्य सम्राट् अशोक ने, जैसा कि 'महावंश' से प्रमाणित होता है, शोण और उत्तर को सुवर्णभूमि में 'धम्म' प्रचार के लिये भेजा था। व्यापार-मण्डलियों के साथ प्रायः ब्राह्मण पुरोहित और निर्वासित राजकुमार भी द्वीपान्तर भारत की यात्रा किया करते थे। ब्राह्मण पुरोहितों का बौद्धों की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त प्रभाव हिन्दचीन और हिन्देशिया द्वारा अभिहित भू-खण्डों पर स्थापित हुआ। निर्वासित राजकुमार अथवा उत्साही क्षत्रियों के द्वारा भी भारतीय राजनीति और उपनिवेशवाद का प्रभाव दक्षिण-पूर्व एशिया के जीवन और समाज पर पड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार, दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय राजनीति का जो आरम्भिक प्रभाव बढ़ा उसके पीछे सांस्कृतिक कारण ही अधिक थे तथा जिन व्यक्तियों द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया में उपनिवेश स्थापित किये गये थे उनकी सफलता व्यक्तिगत प्रयास और क्षमता तथा स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर थी। यद्यपि ऐसा नहीं है कि जो दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप द्वीपान्तरों की ओर गया वह पुनः मूल देश की ओर लौटा ही नहीं लेकिन यह एक निर्विवाद तथ्य है कि दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीयों द्वारा जो उपनिवेश स्थापित किये गये थे, उनका मूल भारतीय राज्यों अथवा जनपदों में नहीं स्थिर था। ये उपनिवेश सर्वथा स्वतन्त्र थे और उन पर भारतीय राज्यों का प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभाव प्रमाणित नहीं है। भारतीय साक्ष्यों से ऐसा तनिक भी संकेत नहीं मिलता कि भारतीय नृपों के द्वारा द्वीपान्तर में भारतीय राजनीतिक उपनिवेशों की स्थापना का कोई सुनियोजित प्रयास हुआ। 'प्रयाग प्रशस्ति' में समुद्रगुप्त द्वारा 'सर्वद्वीप वासिभिः' के आक्रान्त होने की चर्चा है। किन्तु इस क्षीण संकेत से यह ध्वनि निकालना कि समुद्रगुप्त अथवा उसी प्रकार अन्य राजाओं द्वारा द्वीपान्तर के उपनिवेशों का विजय हुआ था, सत्य से बहुत दूर जाना होगा।

ईसवी की प्रथम शती में सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के कतिपय स्थलों में भारतीयों द्वारा हिन्दू राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। इस तरह के हिन्दू राज्य अगले तेरह सौ वर्षों तक दक्षिण पूर्व एशिया में इतस्ततः बने रहे। तेरह वर्षों तक सुदूर द्वीपान्तर में भारतीय संस्कृति और राजनीति का प्रभाव बिना किसी भारतीय राज्य के सक्रिय सहयोग के कैसे स्थिर रहा यह एक आश्चर्य की बात है। इस सम्बन्ध में एक चीनी साक्ष्य द्रष्टव्य है। मलाया प्रायद्वीप में 'शुयेन शुइन' नामक एक राज्य था जिसके बाजारों में पूर्व और पश्चिम के दस सहस्र से भी अधिक व्यापारी प्रतिदिन आया जाया करते थे। यहाँ पाँच सहस्र भारतीय व्यापारिक परिवार बस गये थे। इनके साथ पाँच सौ बौद्ध भिक्षु और एक सहस्र ब्राह्मण भी थे। शूयेन शुइन के लोग ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हो चले थे और अपनी कन्याओं को इन भारतीयों के साथ विवाहित किया करते थे। इनमें से अधिकांश ब्राह्मण परिवार वहीं बस गये थे। इस उदाहरण से यही निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यतया भारतीय व्यापारियों के साथ ब्राह्मण और क्षत्रिय भी सुदूर द्वीपान्तरों की यात्रा किया करते थे। वे अपनी संस्कृति से यहाँ के लोगों को प्रभावित करते थे (दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिकांश स्थल भारतीयों द्वारा सांस्कृतिक प्रसार के पूर्व नूतन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाषाण युगीन परिस्थितियों में ही थे) और राजवर्ग की कन्याओं से विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करके धीरे धीरे स्थानीय राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेंने लगते थे। इस प्रकार जब उन्हें उचित और अनुकूल अवसर मिलता तो वे अपने नेतृत्व में स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना करते थे। हिन्दू राज्यों की स्थापना दो प्रक्रियाओं से हुई। एक तो ऐसे जनपदों अथवा देशों में जहाँ की प्रजा पूर्व से ही हिन्दू हो चुकी होती थी किसी भारतीय हिन्दू क्षत्रिय द्वारा विजित कर लिया जाता था और इस प्रकार एक सशक्त हिन्दू राज्य की स्थापना होती थी। इस प्रक्रिया में बड़ा अधिक समय लगता था। शतप्रतिशत प्रवासी हिन्दुओं के ही प्रयास से ऐसे राज्यों की स्थापना हो पाती थी जिसमें उन्हें केवल सांस्कृतिक दृष्टि से ही सक्रिय नहीं होना पड़ता था, अपितु यथा अवसर सैनिक काररवाई भी करनी होती थी। किन्तु दूसरी प्रक्रिया सर्वथा भिन्न थी और अवसर की अनुकूलता होने पर अपेक्षाकृत सरल भी। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत किसी राज्य का राजा ही भारतीय संस्कृति में दीक्षित किया जाता था; इसके उपरान्त सहज ही वह राज्य हिन्दू राज्य में परिणत हो जाया करता था। इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा राज्याधिकार की स्थापना आती है। कुछ राज्य ऐसे भी हो सकते हैं, जो स्वयं अपनी प्रेरणा से भारतीय संस्कृति के रुचिकर तत्वों को अपनाकर हिन्दू राष्ट्र के रूप में परिणत हो गये हों। किन्तु सीधे सैनिक अभियान द्वारा सुदूर अभारतीय क्षेत्रों में हिन्दू राष्ट्रों की स्थापना भी असम्भावित तथ्य नहीं है। बर्मा की एक अनुश्रुति है कि कपिलवस्तु के एक शाक्य राजकुमार इरावदी की मध्यघाटी को आक्रान्त कर वहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना में समर्थ हुआ था। इस राजवंश ने तेरह पीढ़ी यहाँ शासन किया किन्तु बाद को एक पूर्वी जाति के द्वारा पराजित होकर नष्ट हो गया। किन्तु गंगाघाटी के क्षत्रियों के एक अन्य प्रवाह ने पुनः इरावदी के मध्यघाटी को जीता और एक नये भारतीय उपनिवेश को स्थापित किया।

दक्षिण भारत के इतिहास में ऐसे कुछ साक्ष्य हैं जिनसे यह संकेत मिला है कि दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशों की स्थापना में सांस्कृतिक और राजनीतिक दोनों ही प्रकार के प्रयास काफी पहले से हो रहे थे। 'पेरिप्लस' का विवरण है कि पोदुका के पास विशेष प्रकार की नौकाएँ बनती थीं जो सुवर्णभूमि की यात्रा के लिये उपयोगी थीं। अमरावती की मूर्ति कला का सुदूर दक्षिण भारत की मूर्ति कला पर व्यापक प्रभाव था और अमरावती शैली

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की कतिपय मूर्तियाँ यथा पूर्वी जावा के जेम्बर प्रान्त से प्राप्त बुद्ध की कांस्य प्रतिमा और सेलिविज़ के सेम्पग से प्राप्त बुद्ध की कांस्य मूर्ति दक्षिण भारत और सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के प्रमाण हैं। पल्लवों के शासन-काल में यह सम्बन्ध अपेक्षाकृत व्यापक हो गया था और इस युग में शेष भारत की तरह दक्षिण-पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद की प्रक्रिया का आधार केवल व्यापारिक और सांस्कृतिक ही न होकर राजनीतिक भी होने लगा था। पल्लव नरेश दक्षिण पूर्व एशिया के सम्बन्धों के नियन्त्रण में राजनीतिक दृष्टि से भी रुचि लेते थे। नीलकण्ठ शास्त्री की मान्यता है कि प्रसिद्ध पल्लव नरेश नन्दिवर्मन् तृतीय ने सैन्यबल के आधार पर दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्राज्य स्थापन की चेष्टा की थी। किन्तु चोल सम्राटों का दक्षिण-पूर्व एशिया के भारतीय उपनिवेशवाद के प्रति मौलिक दृष्टिकोण था। वे न केवल दक्षिण-पूर्व एशिया के विजय के लिये सैनिक अभियान के पक्ष में थे बल्कि वहाँ के जनपदों को अपने साम्राज्य का अङ्ग बनाये रखने में सचेष्ट थे। इस प्रकार की नीति किसी भी भारतीय राजवंश के द्वारा कार्यान्वित नहीं हुई थी।

पूर्व प्रसङ्ग में चोलों द्वारा कडारम् विजय की चर्चा हो चुकी है। (द्रष्टव्य पृ० १११, ११२, १२१, १२८) कडारम् श्री विजय के अन्तर्गत था। श्री विजय को चीनी साहित्य में चे-लि-फो-चे कहा गया है। इस राज्य की भौगोलिक व्याप्ति विवाद का विषय है। मेथेन्स महोदय की धारणा है कि श्री विजय साम्राज्य का आदि अधिष्ठान मलायु (मल्लका का पूर्वी तट अथवा सुमात्रा का जम्बी) में था। बाद को श्री विजय का केन्द्र पलेमवङ्ग में स्थापित हुआ। रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार श्री विजय की अवस्थिति सुमात्रा के पलेमवङ्ग में न होकर जावा अथवा मलाया में था। जार्ज कोयड्स का अभिमत है कि सुमात्रा में ही श्री विजय राज्य की अवस्थिति थी और पलेमवङ्ग उसका आदि केन्द्र था।

श्री विजय राज्य का आरम्भिक इतिहास (छठी शती तक) अस्पष्ट है। किन्तु सातवीं शती में इस साम्राज्य के अन्तर्गत जम्बी और बंका पर भी अधिकार स्थापित था और इसके शक्तिमान् नृप श्री जयनाश अथवा जयनाग ने जावा को भी आक्रान्त किया था। सातवीं शती के अन्तिम चरण और आठवीं शती के उत्तरार्द्ध की अवधि में श्री विजय और चीन का सम्बन्ध अत्यन्त प्रगाढ़ था तथा दोनों देशों के बीच दौत्य सम्बन्ध का निर्वाह निर्बाध रूप से किया जाता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। श्री विजय से भारत के लिये बराबर नौकाएँ छूटती थीं तथा इसकी अवस्थिति भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच चलने वाले व्यापारिक सम्बन्धों के समुचित निर्वाह के लिए बड़ी उपादेय सिद्ध हो रही थी। आठवीं शती ईसवी में श्री विजय पर शैलेन्द्रों का आधिपत्य हो गया। ग्यारहवीं शती तक उनका प्रभाव श्री विजय पर अक्षुण्ण रहा। १००३ और १००८ ई० के बीच शैलेन्द्र राजवंश, जो कि कडारम् (कटाह द्वीप) और श्री वर्ष (श्री विजय) का स्वामी था, और चोल राजवंश के बीच बड़ी मैत्री थी। बृहत् लाइडन दानपत्र के विवरण के अनुसार राजराज प्रथम (९८५–१०१४ ई०) के शासन काल में, सम्भवतः १००६ ई० के आसपास, शैलेन्द्रवंशीय चूलामणि वर्मन् पुत्र मारविजयोतुङ्ग ने राजराज प्रथम से नेगपट्टम् के पास चूलामणि वर्म विहार की स्थापना के लिये निवेदन किया था। यह विहार राजराज प्रथम के शासन के अन्तिम वर्षों में निर्मित हुआ, जिस पर अनैमङ्गलम् नामक ग्राम चढ़ाया गया था। इस दान की सम्पुष्टि राजेन्द्र प्रथम ने भी की थी। इस प्रकार चोलों के माध्यम से दक्षिण भारत का सुदूर पूर्व एशिया के एक प्रबल राष्ट्र से जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह मैत्रीपूर्ण था। किन्तु महत्वाकांक्षी चोलों और साम्राज्यकामी शैलेन्द्रों के बीच इस मैत्री सम्बन्ध का निर्वाह अधिक दिनों तक न हो सका। शीघ्र ही (१०१७ ई० के कुछ समय बाद) राजेन्द्र चोल (१०१२—१०४४ ई०) और शैलेन्द्र नृप मार विजयोतुङ्ग वर्मन् के पुत्र और उत्तराधिकारी संग्राम विजयोतुङ्ग वर्मन् के बीच प्रखर प्रतिद्वन्द्विता प्रस्फुटित हुई। दोनों के बीच वर्धमान शत्रुता का कारण ज्ञात नहीं है किन्तु अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिद्वन्द्विता का आधार दोनों ही साम्राज्यों द्वारा कटाह द्वीप (कडारम्) से होकर भारत और दक्षिण पूर्व एशिया तथा चीन के बीच चलने वाले व्यापार पर एकाधिकार की स्थापना का प्रयत्न था। वस्तुतः ये दोनों ही साम्राज्य अपने युग के दो प्रधान नौ शक्तियों के रूप में थे जिनमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का होना राजनीतिक दृष्टि से भी स्वाभाविक था। चोलों के लिये संघर्ष का यह उचित अवसर भी था।

लगभग १९०६ ई० से ही जावा और श्री विजय राज्य में गहरी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी और चोल अभियान के तनिक पूर्व जावा के नृप द्वारा श्री विजय आक्रान्त हो चुका था। इस आक्रमण से श्री विजय की सैनिक शक्ति को बड़ा आघात पहुँचा और तदुपरान्त जब चोल-आक्रमण हुआ तो श्री विजय की सैनिक शक्ति चोलों से सहज ही पराभूत हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चोल-अभिलेखों में कडारम् विजय का जो विवरण है वह अतिरञ्जित न होकर वास्तविक है। चोल नौ सेना ने शैलेन्द्र साम्राज्य के दो प्रधान राजनगर श्री विजय और कडारम् को अधिकृत कर लिया। यद्यपि चोल-अभिलेखों में विजय क्रम से चोल सफलताओं का उल्लेख नहीं है और पराजित तेरह राज्यों अथवा नगरों में कुछ की पहचान भी कठिन है, किन्तु एन० जे० क्रोम महोदय का अनुमान है कि पहले श्री विजय को आक्रान्त कर संग्राम विजयोतुङ्ग वर्मन् को बन्दी बना लिया गया और फिर सुमात्रा के पूर्वी तट को अधिकृत कर लिया गया। इसके बाद सम्पूर्ण मलय प्रायद्वीप को जीत कर अन्त में अल्जेह (लमरी) को आधीन किया गया। लौटती समय चोल नौ-सेना ने नीकोबार को भी आक्रान्त किया। (द्रष्टव्य पृ० १११-११२)

मलय देशीय अनुश्रुति में चोल अभियान का विवरण सुरक्षित है। इसके अनुसार तमिल राजा चोलन ने डिनडिंग नदी पर स्थित लेन्गयू दुर्ग और गंगानगर को ध्वस्त कर दिया और तुमसिक (जहाँ आज सिंगापुर स्थित है) नगर को अधिकृत कर लिया।

कडारम् विजय से शैलेन्द्रों का साम्राज्य विशेष रूप से प्रभावित हुआ। संग्राम विजयोतुङ्ग बन्दी होने के बाद अपना राज्य खो बैठा। किन्तु श्री विजय का साम्राज्य सर्वथा विनष्ट नहीं किया गया। जैसे चोल नृप दक्षिण भारत में युद्ध नीति अपनाते थे उसी प्रकार राजेन्द्र चोल ने दक्षिण-पूर्व एशिया के राजाओं के संदर्भ में नीति निर्धारित की। अर्थात् कडारम् विजय को शुद्ध दिग्विजय का अङ्ग माना और पारम्परिक धर्मविजय की मान्यता के अनुसार भ्रष्ट श्री विजय साम्राज्य को उच्छिन्न न करके उसके द्वारा औपचारिक मान्यता प्राप्त होने पर भेंट आदि लेकर उसे पुनः अपने आधीन प्रतिष्ठापित किया।

दक्षिण-पूर्व एशिया में चोल दिग्विजय की धाक जम गयी और कम्बुज के हिन्दू राज्य से भी चोलों का सम्पर्क बढ़ा। करण्डै दानपत्र के अनुसार अपनी आत्मरक्षा के उद्देश्य से कम्बुज नरेश चोल नृप राजेन्द्र चोल से मैत्री के लिये स्वयं इच्छुक हुआ। (द्रष्टव्य पृ० ११२)

चीनी साक्ष्य से पता चलता है कि कडारम् विजय के बाद भी चोलों का प्रभाव श्री विजय पर स्थापित रहा। १०२८ ई० में सन-फो-त्सी (श्री विजय) राज्य से एक दूत चीन दरबार में उपस्थित हुआ। यह दूत श्री विजय के एक नये नृप चे-ली-ती-होवां की ओर से चीन दरबार में भेजा गया था। चीनी

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट् ने इस दूत का राजनीतिक महत्त्व देखते हुये असाधारण सम्मान किया। सामान्यतया विदेशों से आये हुये दूतों को उपहार रूप में चाँदी और सोने की बनी मेखला दी जाती थी। किन्तु इस बार इस दूत को केवल सोने की ही मेखला दी गयी। इस अनुश्रुति से ची-लि-ती-होवा को विद्वानों ने श्री देव समझा है जो राजेन्द्र चोल का उपनाम प्रतीत होता है।

राजेन्द्र चोल के कडारम् अभियान का स्थायी राजनयिक प्रभाव दक्षिण-पूर्व एशिया पर पड़ा। राजेन्द्र चोल के बाद भी चोल नृपों की दिलचस्पी दक्षिण-पूर्व एशिया की राजनीति में बनी रही। वीर राजेन्द्र (१०६३-१०७० ई०) का भी प्रभाव श्री विजय साम्राज्य पर पूर्ववत् बना रहा। १०६८ ई० के आसपास वीर राजेन्द्र का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि कडारम् के राजवंश को अपनी सुरक्षा के लिये वीर राजेन्द्र का मुखापेक्षी होना पड़ा। (द्रष्टव्य पृ० १२१) कडारम् के नृप को संरक्षकता देने के बाद चोलों और शैलेन्द्रों के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक सहयोग की मात्रा में भी अभिवृद्धि हुई। शक संवत् १०१० (१०८८ ई०) का एक खण्डित तमिल अभिलेख सुमात्रा के लोबै तोयवा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसमें भारतीय व्यापारिक संघ की चर्चा है जो कि दक्षिण-पूर्व एशिया के व्यापार में महत्त्वपूर्ण अधिकार रखता था। लघु लाइडन दानपत्र, जो कुलोतुङ्ग प्रथम के शासन-काल में (१०९० ई०) प्रकाशित किया गया था, यह उल्लेख करता है कि किडारट्टरैयन् की तरफ से राजविद्याधर और अभिमानोतुङ्ग इस अभिप्राय से भेजे गये थे कि वे चोलनृप कुलोतुङ्ग प्रथम से अनुरोध करें कि वह नेगापट्टम् के श्री शैलेन्द्र चूलामणि वर्म विहार के सम्बन्ध में एक ताम्रशासन प्राप्त कर सकें जिसमें विहार की सुविधा के लिये अपेक्षाकृत अधिक दान प्राप्त हो सके। (द्रष्टव्य पृ० १२८)

कुलोतुङ्ग के बाद चोलों का दक्षिण-पूर्व एशिया से क्या सम्बन्ध रहा—बताना कठिन है। किन्तु द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य के अन्तर्गत दक्षिण भारत और कडारम् के बीच राजनयिक आदान-प्रदान होते रहे। 'चूलवंश' के अनुसार जावक (= जावाग = श्री विजय) के नृप चन्द्रभानु ने दो बार (१२३६ और १२५६) सिंहल को आक्रान्त किया था। उन अभियानों में चोल, पाण्ड्य तथा अन्य तामिल सैनिक चन्द्रभानु के सहायक थे। किन्तु जटावर्मन् वीर पाण्ड्य के शासन काल में दक्षिण भारत का श्री विजय साम्राज्य से सम्बन्ध बिगड़ गया। सम्भवतः उदीयमान पाण्ड्य साम्राज्य की अभिवृद्धि के प्रति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पतनोन्मुख शैलेन्द्र नृप सशंक थे। प्रतिद्वन्द्विता की इति श्री वीर पाण्ड्य के कडारम् अभियान से हुई। खेद है कि दक्षिण-पूर्व एशिया में पाण्ड्यों की गतिविधि का विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। किन्तु शैलेन्द्र नृप चन्द्रभानु को पराभूत होना पड़ा था और उसे जटावर्मन् वीर पाण्ड्य की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। इस तथ्य के पोषक अभिलेखकीय प्रमाण हैं।

इस प्रकार लगभग तीन शताब्दियों तक दक्षिण भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच प्रभावपूर्व राजनीतिक सम्बन्ध बना रहा जिसका प्रभाव भारतीय संस्कृति की द्वीप-द्वीपान्तर व्याप्ति पर भी श्लाघनीय सिद्ध हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट २

संक्षिप्त तिथि तालिका

ईसवी सन्

ल० १००–३०० संगम युग

ल० १३० उदियञ्जीरल् (चेर) का शासन काल

ल० १५५ नेडुञ्जीरल् आदन् का राज्यारम्भ

१८० सेनगुट्टुवन् (चेर) का शासनारम्भ

१९० करिकाल (चोल) का सत्तालाभ

१९० पेरुञ्जीरल इरुमपोरै (चेर) का राज्यारम्भ

ल० २१० सेईयै (चेर वंश का अन्तिम नृप) का शासन काल

३४०–३५० विष्णुगोप (पल्लवराज) का शासन काल

ल० ३४०–३७० मयूरशर्मन् (कदम्बवंश के संस्थापक) का शासन काल

ल० ३५०–४०० कोंगुनिवर्मन् (पश्चिमी गंग वंश के स्थापक) का शासन काल

३५०–५७५ काञ्ची पर मुख्य पल्लव राजाओं का शासन काल

४३६–४५८ सिंहवर्मन् प्रथम (पल्लव) का शासन काल

ल० ४५० हरिवर्मन् (पश्चिमी गंगवंशीय) का राजत्व लाभ

४७५–४८५ कृष्णवर्मन् प्रथम (कदम्ब) का शासन काल

४९७–५३७ रविवर्मन् (कदम्ब वंशीय) का राज्य काल

५५०–५७५ नेलौर गुण्टुर क्षेत्र में उपपल्लव शाखा के राजाओं का शासन काल

५७५–६०० सिंहविष्णु (पल्लव) के शासन काल

५९०–६२० कडुङ्गोन् (पाण्ड्य) का शासन काल

५९० कलभ्रों का पतन और कडुंगोन् का शासनारम्भ

ल० ६०० प्रथम पाण्ड्य साम्राज्य की स्थापना

६००–६३० महेन्द्रवर्मन् (पल्लव) का शासन काल

६३०–६६८ नरसिंह वर्मन् (पल्लव) का शासन काल

६४२ पल्लवनरेश नरसिंह वर्मन के द्वारा चालुक्यराज पुलकेशी की पराजय

६७०–६९५ परमेश्वर वर्मन् प्रथम (पल्लव) का शासन काल

६४५–६७० शेन्दन् अथवा जयन्तवर्मन् (पाण्ड्य) का शासन काल

७२५–७८८ श्रीपुरुष (गंगवंशीय) का शासन काल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७३०–८०० नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल का शासन काल

७४०–७६५ राजसिंह प्रथम (पाण्ड्य) का शासन काल

७५२–७५६ दन्तिदुर्ग (राष्ट्रकूट नृप) का शासन काल

७९६–८४७ दन्तिवर्मन् (पल्लववंशीय) का शासन काल

८१५–८६२ श्रीमार श्रीवल्लभ (पाण्ड्य) का शासन काल

८६८–८९० विक्रमादित्य प्रथम (बाणवंशीय) का शासन काल

८७२–९१३ नृपतुङ्ग का शासन काल

९०७–९६५ नीतिमार्ग द्वितीय (नोलम्ब-वंशीय) का शासन काल

९१०–९५५ परान्तक प्रथम (चोल) का शासन काल

९८५–१०१४ राजराज अरिमौलिवर्मन् या राजराज प्रथम (चोल) का शासन काल

१००६–१०४७ नृप होयसल का शासन काल

१०१४–१०४४ राजेन्द्र प्रथम (चोल) का शासन काल

१०१७–१०१८ राजेन्द्र प्रथम (चोल) के द्वारा लङ्का पर विजयलाभ

१०४४–१०५२ राजाधिराज (चोल) का शासन काल

१०४७–१०९७ विनयादित्य (होयसल वंशी) का राज्यकाल

१०६२–१०७० वीर राजेन्द्र प्रथम (चोल) का शासन काल

१०७०–११२० कुलोत्तुङ्ग (चोल) का शासनकाल

११०८–११४२ विष्णुवर्धन् (होयसलवंशीय) का शासनकाल

१२३४–१२६३ सोमेश्वर (होयसलवंशीय) का शासनकाल

१२७९ चोलसाम्राज्य का पतन

१२९१–१३३३ वीरवल्लाल तृतीय का राजत्व काल

१३१० दक्षिण भारत में मलिक काफूर का आक्रमण

१३११ विक्रमपाण्ड्य द्वारा मलिक काफूर की पराजय

१३२३ मदुरा के हिन्दू राज्य का पतन

१३२४–३५ मदुरा में स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य की स्थापना

१३५७ कम्पिलिदेव के द्वारा मुहम्मद बिन तुगलक की सेना के पराजय

१३७७–७८ मदुरा से इस्लामी सल्तनत का पतन

१४२९–७३ कुलशेखर पाण्ड्य का शासनकाल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षिप्त ग्रन्थ सूची

अल्टेकर, अनन्त सदाशिव — राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स, पूना, १९३४।

अय्यर, सुब्रमन्य — हिस्टारिक स्केचेज़ आफ एन्सियन्ट डकन, मद्रास, १९१७।

आयङ्गर, श्रीनिवास — तमिल स्टडीज़, मद्रास, १९१४।

आयङ्गर, एस० कृष्णस्वामी — साउथ इण्डिया एण्ड हर मुहमडन इन्वेडर्स, मद्रास, १९२१।

इलियँट — क्वाइन्स आफ सदर्न इण्डिया, लन्दन, १८८६।

कनकसभै, पिल्लै — द तमिलज एटीन हन्डरेड इयर्स एगो, मद्रास, १९०४।

काडरिङ्गटन, एफ० डबल — ए शार्ट हिस्ट्री आफ सीलोन, लन्दन, १९२९।

काडवेल — कम्परेटिव ग्रामर ऑफ द ड्रूवेडियन लैंगवेजेज़, लन्दन, १९१३,

कोयलहो, विलियम — द होयसल वंश, बम्बई, १९५०।

आयङ्कर कृष्णस्वामी — बिगनिङ्गस् आफ साउथ इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास, १९१८।

„ „ — मणिमेखलै इन इट्स हिस्टारिकल सेटिङ्ग, लन्दन, १९२८।

गाङ्गुली, डी० सी० — द ईस्टर्न चालुक्याज़, बनारस, १९३७।

गोपालन, के० — पल्लवाज़ आफ काञ्ची, मद्रास, १९२८।

गोपालाचारी, के०, — अर्ली हिस्ट्री आफ द आन्ध्र कन्ट्री, मद्रास, १९४१।

डरेट, जे० डी० एम० — होयसल, आक्सफोर्ड, १९५७।

डुवरैल, जी० जे०, — एन्सियण्ट हिस्ट्री आफ द डकन, पान्डेचेरी, १९२०।

दिक्षितार, रामचन्द्र — स्टडीज़ इन तमिल लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री, मद्रास, १९३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फ्लीट, जे० एफ० डाइनेस्टीज़ आफ द कनारीज़ डिस्ट्रक्ट, बम्बई, १८९६।

बाशम, ए० एल० वन्डर दैट वाज़ इण्डिया, कलकत्ता, १९६३

ब्राउन, जे० सी० कैटलाग आफ प्री हिस्टारिक एन्टीक्विटीज़ इन इण्डियन म्युजियम कलकत्ता, शिमला, १९ ३।

भंडारकर, आर० जी० अर्ली हिस्ट्री आफ द डकन, बम्बई, १८९४।

मजूमदार, रमेशचन्द्र, कारपोरेट लाइफ इन एन्सियन्ट इण्डिया, चम्पा, लाहौर, १९२७।

" " सुवर्णद्वीप, ढाका, १९३७-३८।

" " कम्बुजदेश, मद्रास, १९४४।

" " हिन्दू कालोनीज़ इन द फार ईस्ट, कलकत्ता, १९४४।

" " एन्सियन्ट इण्डियन कालोनाइजेशन इन साउथ ईस्ट एशिया, बड़ौदा, १९६३।

" और पुषालकर एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, १९६४

" " क्लासिकल एज, बम्बई, १९६२

" " स्ट्रगिल फार इम्पायर, बम्बई, १९६४

" " देलही सुल्तनेट, बम्बई, १९६४

महालिङ्गम, टी० बी० द वाणाज़ इन साउथ इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास, १९५२।

मोरेस जी० एम० द कदम्ब कुल, बम्बई, १९३१।

याजदानी, हिस्ट्री आफ द डकन, आक्सफोर्ड,

यूल और कर्डियर, द ट्रैवेल्स आफ मार्कोपोलो, लन्दन १९२१।

राइस, बी० एल० मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इन्सक्रिप्शन्स, लन्दन, १९०९

राव, एम० वी० कृष्ण, द गंगाज़ आफ तलकाड, मद्रास, १९३६।

वेङ्कटरमन, के० आर० होयसल इन द तमिल कन्ट्री, अन्नमलैनगर, १९५०।

वेङ्कटरमनैया एन० द अर्ली मुस्लिम एक्सपैन्सन इन साउथ इण्डिया, मद्रास, १९४२।

" " द ईस्टर्न चालुक्याज़ आफ वेङ्गी, मद्रास १९५०।

वी रङ्गाचार्य इनस्क्रिपसन्स आफ द मद्रास प्रेसीडेन्सी, ३ खण्ड, मद्रास १११९।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्री नीलकण्ठ, के० ए०, ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया, आक्सफोर्ड, १९५५।
,, ,, चोलाज़, मद्रास, १९५५।
,, ,, द पाण्ड्यन किङ्गडम, लन्दन, १९२९
,, ,, सदर्न इण्डिया, अरेबिया एण्ड अफ्रीका, १९३८
,, ,, द कल्चर एण्ड द हिस्ट्री ऑफ द तमिलज़, कलकत्ता १९६४
,, ,, स्टडीज़ इन द चोल हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, मद्रास, १९३२
,, ,, हिस्ट्री आफ श्री विजय, मद्रास, १९४९
,, ,, सोर्सेज ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, १९६४
शेष अय्यर चेर किङ्गस ऑफ द सङ्गम एज, लन्दन, १९३७
शिव्रराज पिल्ले क्रानालाजी ऑफ द एन्सियण्ट तमिलज़।
सथैन्थियर आर० स्टडीज़ इन द एन्सियण्ट हिस्ट्री ऑफ द टोण्डमण्डलम्, मद्रास, १९४४
सरकार दिनेशचन्द्र, द अर्ली पल्लवाज़, लाहौर, १९३५
,, ,, सक्सेसरस ऑफ द सातवाहनज़, कलकत्ता, १९३९
सांकलिया, एच० डी० प्री हिस्ट्री एण्ड प्रोटो हिस्ट्री इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान,
स्मिथ वी० ए० अर्ली हिस्ट्री ऑफ एन्सियण्ट इण्डिया, १९१४
सीवेल, आर०, हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शनस ऑफ साउथ इण्डिया, मद्रास, १९३२
हुसेनी, एस० ए० क्यू० हिस्ट्री ऑफ द पान्ड्य कन्ट्री, सेलवी (मद्रास) १९६२
ह्वीलर, सर मार्टिमोर, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान १९५९
,, ,, रोम बियॉण्ड इट्स इम्पीरियल फ्रन्टियर्स हरमोण्डस्वर्थ, १८५५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नामानुक्रमणिका

अच्युतविकन्त, (अच्युतविक्रान्त) ३८, ३९
अडिगैमान्, ३१, ३२
अधिराजेन्द्र, १२२
अनन्तवर्मन् चोडनाग, १२९
अन्दुवन्, ३१
अपराजित, ८३
अमरभुजङ्ग, १००
अमोघवर्षप्रथम (राष्ट्रकूट), ८२, ८६, ८७
अरिकेशरी पराङ्कुश, ६०
अरिकेशरी मारवर्मन्, ६१
अलाउद्दीन खिल्जी, १५०, १७०, १७२–७४
अशोक, १२, २२, २३, २५, १८०
आदित्य प्रथम (चोल), ६६, ९०, ९२
आदित्य द्वितीय, ९८
आय, ६१
इरुमपोरै, ३२
उत्तमचोल, ९७, ९८, १००, १३९
उदयचतुर्थ, ९४
उदयमार्तण्ड, १४५
उदयादित्य, १६१
उदियञ्जीरल्, ३०
ऐ, ३१
कङ्गवर्मन्, ५६
कडक्को इलञ्जीराल इरुमपोरै, ३२
कडुङ्गोन, ५५, ६०
कम्पिलदेव, १७६–७७, १८०
करिकाल (चोल), २४, ३२–३४, ५३
करुणाकरत्तोण्डैमान्, ११
कलभ्रन, ३७
काकुस्थवर्मन्, ५६
काडुवेट्टि, ५५
कात्यायन, २०,
कामदेव, १६२, १६४
कालिदास, ५६
किट्टि, १२७,
कीर्तिवर्मन्, ५७, ५८
किल्ली वलवन्, ४४
कुतुबुद्दीन मुबारक खिल्जी, १५२
कुन्तलेश, ५६
कुमारवर्मन्, ५१
कुमारविष्णु, ५२, ५३
कुमारविष्णु द्वितीय, ५१, ५३
कुलशेखर, १३१, १४२
कुलोत्तुङ्ग प्रथम, ११६, १२३, १२४, १३०, १४०, १६५, १८७
कुलोत्तुङ्ग द्वितीय, १३१
कुलोत्तुङ्ग तृतीय, १२४, १३२, १३८, १४२, १६५
कृष्ण प्रथम (राष्ट्रकूट), ८५
कृष्ण द्वितीय, ९५
कृष्ण तृतीय, ८८, ९५, ९६, ९७ १५४
कृष्णवर्मन्, ५६, ५७
कोंगुनिवर्मन्, ५५
कोच्चडैयन्, ६१
कौटिल्य, २०, २१
गणपति (काकतीय), १४६
गण्डरादित्य, ९७
गयासुद्दीन तुगलक, १७५, १७८
गुणवर्मन, ६६
गुणसागर, ८९
गोविन्दचन्द्र (गहड़वाल), १२९
गोविन्द द्वितीय, ८५
गोविन्द तृतीय (राष्ट्रकूट), ८१, ८५
गौतमीपुत्र सातकर्णि, ४३
चन्द्रगुप्त द्वितीय, ५६
चन्द्रगुप्त मुनि, २२
चन्द्रगुप्त मौर्य, २२, २३
चित्रमाय, ७६, ७७, ७८
चित्रवाहन द्वितीय, ८९
जगदेकमल्ल उदयादित्य, ११३
जटावर्मन् कुलशेखर, १३२, १४३, १४५
जटावर्मन् पराक्रमपाण्ड्य, १५२
जटावर्मन् श्रीवल्लभ १४०, १४१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जटावर्मन सुन्दर चोल, १०७
जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य, १३६, १४०, १४१, १४९ १६७–६९
जटिल, ६२
जटिलवर्मन, १३
जयकेशि द्वितीय, १५७
जयनन्दिवर्मन्, ५८
जयसिंह, १०८
जयसिंह द्वितीय, ११३
तिक्क (चोडगंगवंशीय), १३६
तिरुमङ्गै आलवार, ८१
तिरुविलैयाडल पुराणम्, १०
तैलप, १६१
तैलप द्वितीय, १०१, १०२
तोण्डैमान् इलन्दिरैयन्, ३३, ४५
दण्डिन्, ७५
दन्तिदुर्ग, ८०
दन्तिवर्मन्, ८०, ८१, ८२
दप्पुल चतुर्थ, ९४
धर्मपाल, १०९
नन्दिवर्मन्, ५१, ५३, ५४, ६२, ७९, ८०, ८५
नन्दिवर्मन् द्वितीय, ७६, ७९, ८१, १८४
नन्दिवर्मन् तृतीय, ९ ८१, ८२, ८३
नन्दि पल्लव, ६४, ६५
नरसिंह, १३४, १६५, १६७
नरसिंह तृतीय, १६९, १७०
नरसिंह देव, १६१
नरसिंहवर्मन्, ३९, ४१, ७१-७४
नरसिंहवर्मन् द्वितीय, ७५
नरसिंह (होयसल), १४४
नरेश गणपति, १३६
निश्शङ्क मल्ल, १३२
नीतिमार्ग, ८७, ८८
नृपकाम, १३०, १५५
नृपतुङ्ग, ६६, ८३
नेडुञ्जडैयन्, ५५, ६२
नेडुञ्जयन् पाण्ड्य, ९०
नेडुञ्जीरल् आदन्, ३०
नेडुञ्जेलियन, ३२, ३४, ३५
पतंजलि, २१
परमेश्वर वर्मन् ७२, ७४, ७५
परमेश्वर वर्मन् द्वितीय, ७६
परमाडिदेव सिन्द, १६०
परशुरामदेव, १७३
पराक्रमबाहु प्रथम, १३४, १४१
पराक्रमबाहु तृतीय, १४८
पराक्रम पाण्ड्य, १३१, १४१
परान्तक प्रथम, ६२, ६३, ६६, ६७, ८६, ८८, ८९, ९३, ९६
परान्तक द्वितीय, ९५, १००
परान्तक नेडुञ्जडैयन्, ६३
परान्तक पाण्ड्य, १४०
पल्यानैशेल्केलु कुत्तुवन्, ३०
पल्लवमल्ल, ६१
पाणिनि, २०
पुलकेशिन प्रथम, ५७
पुलकेशिन् द्वितीय, ५७, ५८, ६९–७२
पृथ्वीपति प्रथम, ८७
पृथ्वीपति द्वितीय, ८६, ९२, ९५
प्रतापरुद्र (काकतीय), १५१, १७३, १७५
प्रोलय नायक, १७८, १७९
प्रतापरुद्र द्वितीय, १७५
प्लूटकि, २३
बल्लाल प्रथम, १५७, १५८, १६३, १६४
बल्लाल द्वितीय, १६१, १६२
बल्लाल तृतीय, १७१, १७३, १७५, १७७, १७९, १८०
बल्लाल चतुर्थ, १८०
बिट्टिग विष्णुवर्धन, १३०
बुक्का, १८०
बुद्ध वर्मन्, ५१
बुद्धयाङ्कुर, ५१
बुधवर्मन्, ५३, ५४
ब्रह्मदत्त, ३८
भगीरथ, ५६
भारशिव, ४६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भीम वर्मन्, ६९
भूतुग द्वितीय, ९६
मदनपाल गहडवाल, १२९
मयूरशर्मन्, ५६, १६१
मलिक काफुर, १५०, १७०, १७३
महिन्द पञ्चम, १०१, १०७
महेन्द्र वर्मन प्रथम, ९, १३, ७०, ७१
महेन्द्र वर्मन् द्वितीय, ७४
महाभारत, २१
महाभाष्य, २१
माधव प्रथम, ५५
माधव द्वितीय, ५५
मानवर्मा, ७३
मामूलनार, २४
मारञ्जडैयन्, ६२
मारन् शडैयन्, ८१
मारवर्मन्, ६०
मारवर्मन् अवनि शूलमणि, ६०
मारवर्मन् कुलशेखर, १४९
मारवर्मन् पराक्रम पाण्ड्य, १४१, १५२
मारवर्मन् राजसिंह प्रथम, ६१
मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय, ६६
मारवर्मन् विक्रमपाण्ड्य, १४९
मारवर्मन् श्रीवल्लभ, १४१
मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम, १३२, १३३, १४३-४५, १६५-६७
मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय, १३५
मारसिंह, ८६
महेन्द्र प्रथम, ८७
मुट्टकुडुमी, ३८
मुतुरू, ३५
मुबारक खिल्जी, १७५
मुशंगी संग्राम, ११२
मुहम्मद विन तुगलक, १७७, १७८, १८०
मृगेशवर्मन्, ५६, ५७
मेगस्थनीज़, २०
यशस्कर्णदेव, १३६
यूडैमोन, ४
रविवर्मन् कुलशेखर, १५१, १७५
राजराज अरिमौलिवर्मन्, १००
राजराज चोड गंग, १२८
राजराज चोल प्रथम, ९६, १०३, १०४, १३९, १५४
राजराज चोल तृतीय, १३३, १३४, १४४, १६५-६६, १८५
राजराज मुम्मडि, १२८
राजमल्ल प्रथम, ८६, ८७, ८८
राजाधिराज चोल प्रथम, १०७, ११३-१६, १४०
राजा नेडियोन्, ३४
राजेन्द्रचोल प्रथम, १००, १०१, १०५, १११, ११३-१५, १२४, १३९, १४०, १६८, १८५-१८७
राजेन्द्र द्वितीय, ११७, ११९
राजेन्द्रचोल तृतीय, १४, १३४, १३६, १६८
रामचन्द्र, १६९
रामदेव, १७२-७४
राजसिंह प्रथम, १३, ५५, ६२, ६७, ७८, ८५, ९३, ९४
राजसिंह, १३
राजसिंह द्वितीय, १३८
रुद्रदामन, ४२, ४३
लोकविभाग, ९
वप्पदेव, ५०
वरगुण द्वितीय, ८४
वरगुणमहाराज, ६२
वरगुणवर्मन्, ६५
वासिष्ठि पुत्र श्रीपुलमावि द्वितीय, ४७
विक्रम चोल, १०९, १३०, १३२
विक्रम पाण्ड्य, १३२, १४२, १४३, १७४, १७५
विक्रमबाहु प्रथम, ११६
विक्रमादित्य प्रथम, ७४, ७५
विक्रमादित्य प्रथम (बाणवंशीय), ८७
विक्रमादित्य द्वितीय, ३९, ७६, ७९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विक्रमादित्य तृतीय, ८८
विक्रमादित्य पञ्चम, १०८
विक्रमादित्य षष्ठ, १२१, १२५, १३०, १५६
विजयनन्दिवर्मन्, ४२
विजय पाण्ड्य, १६२
विजयबाहु, १२०, १२५, १२७
विजयाचल, ९३, ९२
विजयादित्य, ११३
विजयादित्य द्वितीय, ८६
विजयादित्य सप्तम, १२८
विनियादित्य, ३९, १३०, १५५, १५६
विमलादित्य, १०८
विद्यारण्य, १८०
विन्ध्यसेन, ५६
विष्णुगोप, ३५, ३६, ५०-५२
विष्णुगोप पल्लव, ४६
विष्णुगोपवर्मन्, ४१, ५२
विष्णुवर्धन, १५८, १५९, १६०-१६२, १६५
विष्णुवर्धन विजयादित्य सप्तम, १०८, ११३
विष्णुवर्मन्, ५७
वीरकूर्च, ४६, ४७, ५२
वीर नरसिंह, १३४, १६६-६७
वीर पाण्ड्य, ९७, १३२, १३९-४०, १४२, १८७–१८८
वीर बल्लाल, १६३, १६५-६६
वीर सोमनाथ, १३६,
वीर सोमेश्वर, १३४
वीरसलामेघन, ११५
शक्तिवर्मन् प्रथम, १०८
शाम्बुरायन, १७९
शलुक्किविक्रमादित्य, १२१
शडयैन् तिरुवैयन्, ९५
शन्डयन् तिरुवैयन् द्वितीय, ८९
शान्तिवर्मन्, ५४, ५६
शिवमार प्रथम, ८४
शिवमार द्वितीय, ८५, ८६, ८८
शिवस्कन्दवर्मन्, १२, ४१, ४७, ५०, ५१
श्रीपरान्तक वरनारायण शडयान्, ६६
श्रीपुरुष, ८५
श्रीपुलमावि द्वितीय, ४२
श्रीमारपरचक्र कोलाहल, ८३
श्रीमारवर्मन, ६५
श्रीमार श्रीवल्लभ, ६३-६५
सङ्गम, १७३
संग्राम विजयोत्तुङ्ग वर्मन्, १११, १८५
सत्याश्रय, १०१
समुद्रगुप्त, ३५, ३६, ५२, ५५, ५६, ११०, १८१
सिंहवर्मन्, ९, ४१, ५३, ५५, ५७, ६८
सिंहविष्णु, ९, ३९, ५२, ६८, ६९
सुन्दर चोल, ९८
सुन्दर चोल परान्तक द्वितीय, ९७
सुन्दर पाण्ड्य, १६५, १७४
सुविशाख पल्लव, ४३
सेनगुट्टुवन्, ३१
सेन प्रथम, ६४
सेन द्वितीय, ६४
सोमेश्वर प्रथम, ११३, ११६, ११७, ११९, १३५, १६५, १६७, १६९
सोमेश्वर द्वितीय, १२१–२२
सोमेश्वर तृतीय, १६०
सोमेश्वर चतुर्थ, १६३–६४
स्कन्दवर्मन्, ५०–५२, ५६
स्कन्दवर्मन्, द्वितीय, ५३
स्कन्दवर्मन्, तृतीय, ५४
हरपाल, १७५
हरिवर्मन्, ५३, ५५, ५७
हरिहर, १८०
हर्ष, ७२
हिरण्य, ७६
हेरिक्लीज, २०
होयसल, १५४, १५५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक १

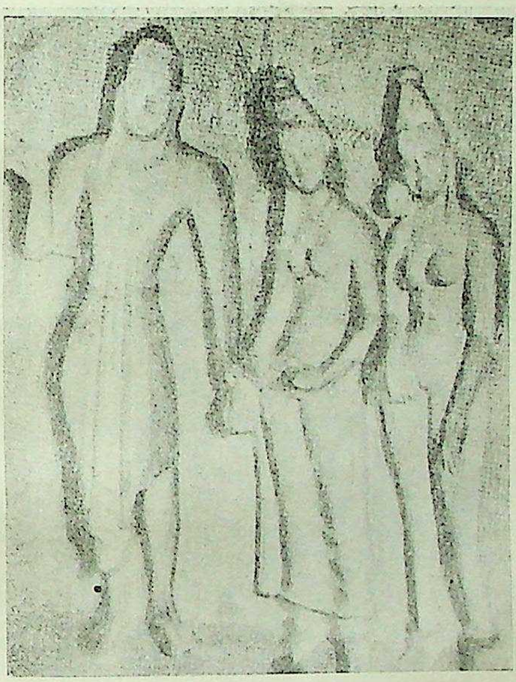

सपत्नीक सिंहविष्णु (वराह गुफा १, महाबलीपुरम्)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक २

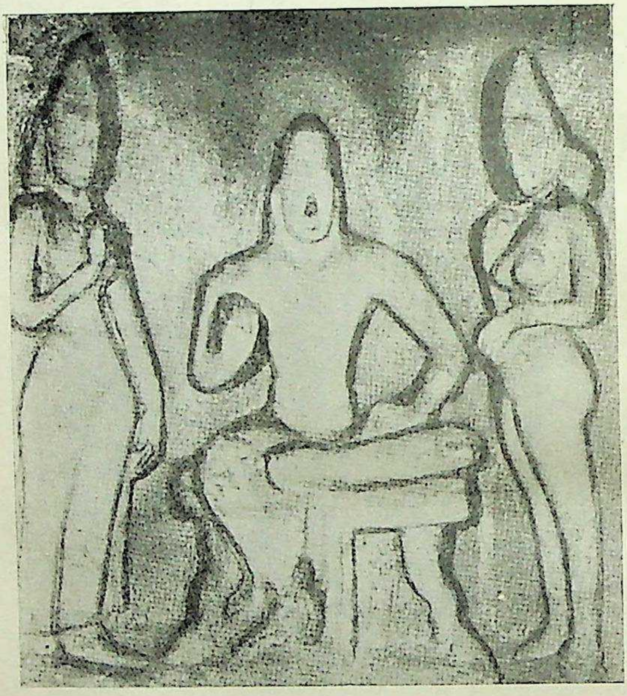

सपत्नीक महेन्द्रवर्मन् (वराह गुफा १, महाबलीपुरम्

फलक ३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

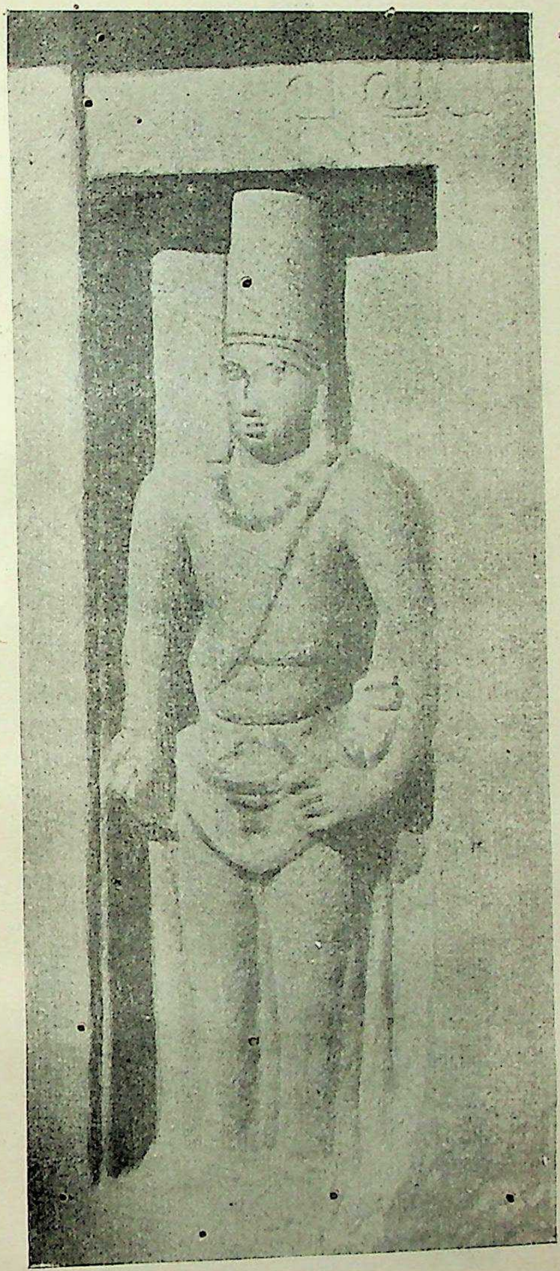

नरसिंहवर्मन् प्रथम की प्रस्तर मूर्ति (धर्मराजरथ, महाबलीपुरम्)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक ४

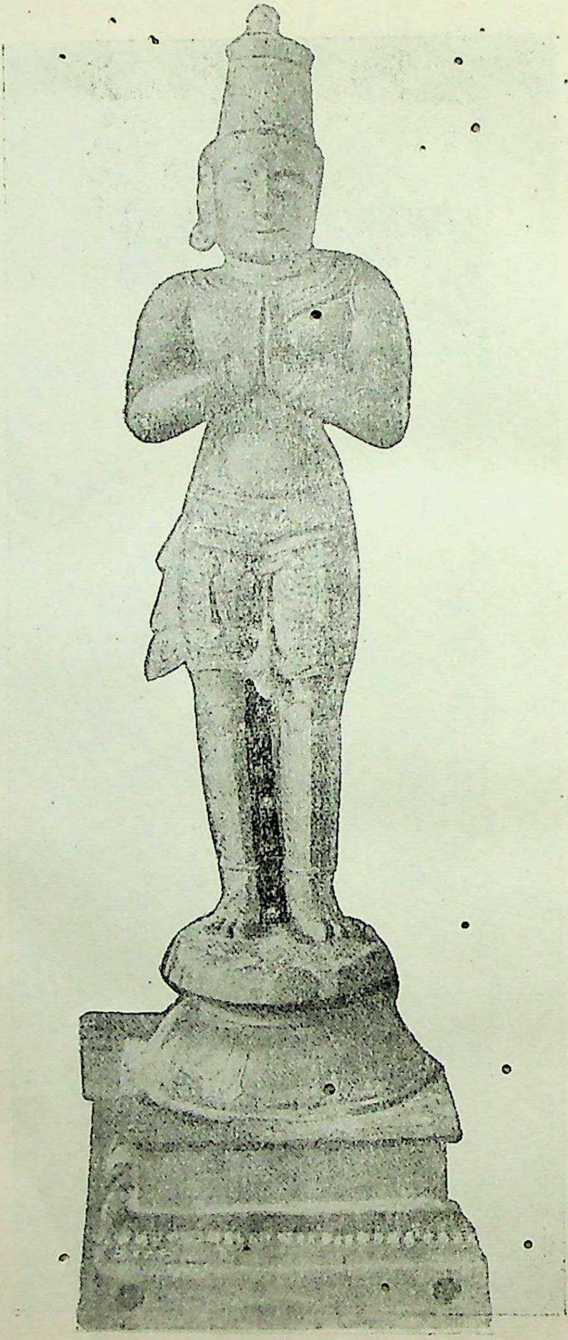

राजराज प्रथम की कांस्यमूर्ति

फलक ५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुलोतुङ्ग तृतीय की कांस्यमूर्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक ६

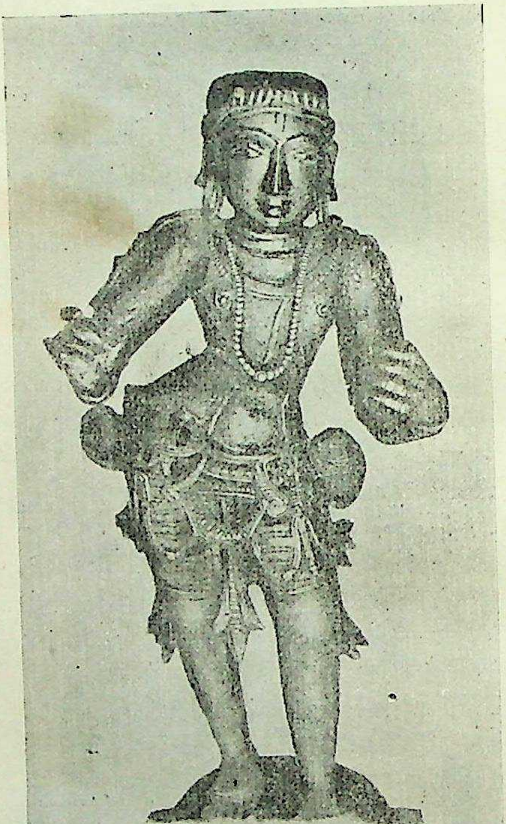

विष्णुवर्द्धन की कांस्यमूर्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक ७

करण्डै दानपत्र पर अंकित चोल-राजमुद्रा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक ८

मडकुलम् दानपत्र पर अंकित पाण्ड्य-राजमुद्रा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh